बोलती प्रतिमा

श्रीराम शर्मा

बोलती प्रतिमा

श्रीराम शर्मा

आर्य बुक डिपो
करोल बाग, नई दिल्ली-110005

आर्य बुक डिपो, करोल बाग, नई दिल्ली द्वारा
प्रस्तुत पुस्तक प्रथम बार 1987 में प्रकाशित की गई

प्रकाशक :
सुखपाल गुप्त
आर्य बुक डिपो
30, नाईवाला, करोल बाग,
नई दिल्ली-110005
दूरभाष : 5721221, 5720363
ISBN-81-7063-071-1

पुनमुर्द्रण : 1996

मूल्य : 70.00

मुद्रक :
कोणार्क प्रिंटर्स
दिल्ली-110032

छोटे भाई स्वर्गीय जगन्नाथ शर्मा
को
'बोलती प्रतिमा'
समर्पित
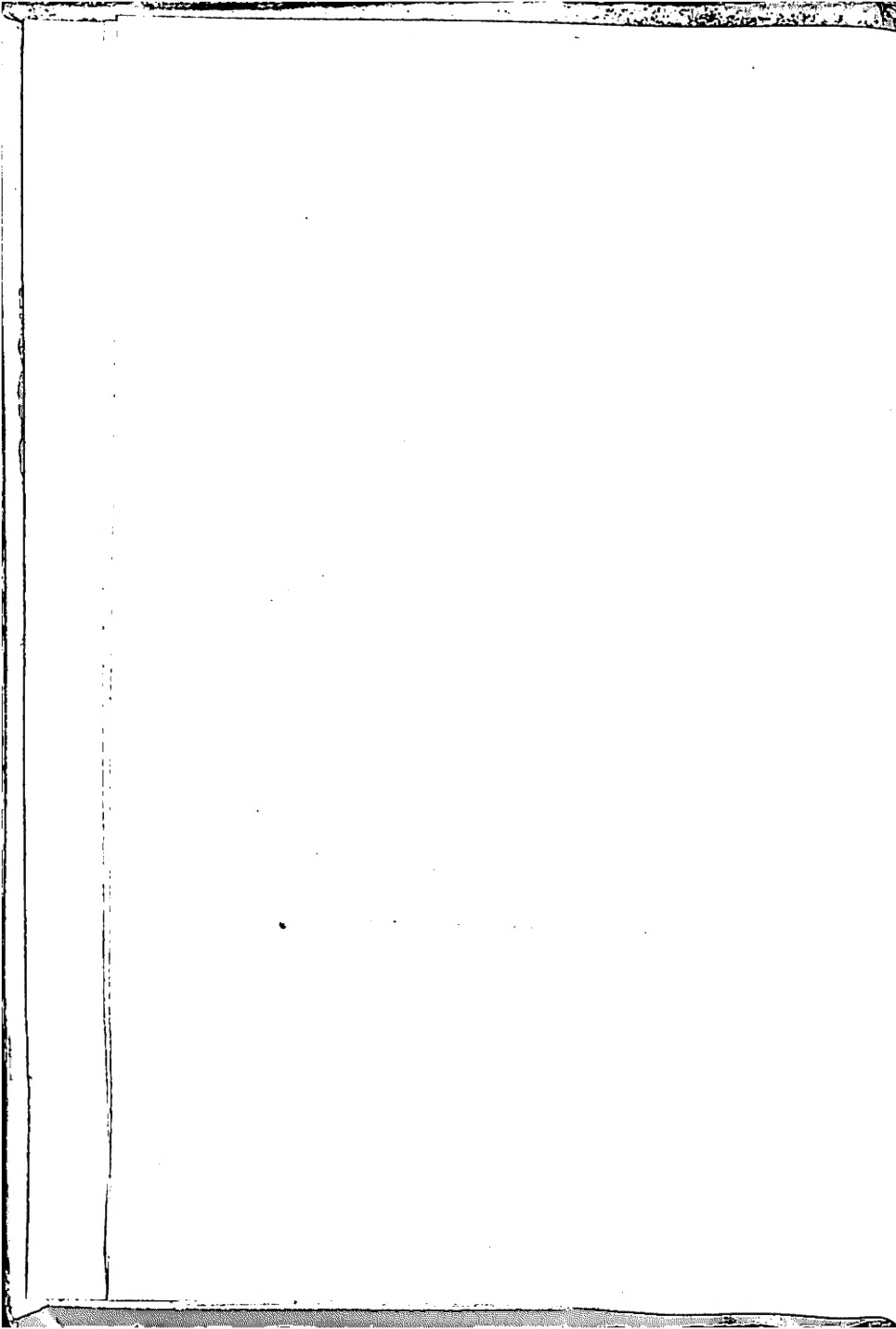
प्रस्तावना

लेखक के पन्द्रह लेख—कहानियां और स्केच—पाठकों के सामने हैं, 'बोलती प्रतिमा' के नाम से। यह बात नहीं कि लेखक ने और कहानियां नहीं लिखीं। शायद दस-बारह कहानियां और भी लिखी हैं, पर वे मिल न सकीं। और उनके न मिलने का कोई विशेष दुःख नहीं, क्योंकि समाचार-पत्रों के कार्यालयों में जाकर पुरानी फाइलें ढूंढ़ने से वे मिल भी जातीं तो पुस्तक का कलेवर बढ़ जाता और लेखक के दृष्टिकोण से—कला और उपयोगिता की दृष्टि से इन चुने हुए लेखों से वे आगे न बढ़ पातीं।

इन पंक्तियों के लेखक का स्पष्ट मत है कि साहित्य में वही चीज टिकाऊ होती है जिसमें कला और उपयोगिता का समन्वय होता है। आत्मा और शरीर का जब तक समन्वय नहीं होता तब तक संसार के विचित्र प्राणी मनुष्य की सृष्टि नहीं होती और इसी प्रकार जब तक कला और उपयोगिता का संगम नहीं होता तब तक उच्चकोटि का साहित्य भी लोकोपकारी नहीं होता। कला के हम कायल हैं। कलाकार और कला मानव-समाज की विभूतियां हैं, और कला की उन्नति हमारा ध्येय होना चाहिए—ठीक आत्मिक उन्नत्ति की भांति।

क्योंकि जीवन के विकास में आत्मिक उन्नति पशुता से मनुष्यत्व की ओर ले जाती है; पर कोरी कला—कला कला के लिए—और कोरी उपयोगिता—प्रत्येक चीज को उपयोगिता की कसौटी पर कसने की प्रवृत्ति ठीक वैसे है जैसे आत्मा की उन्नति को बालाएताक रखकर प्रेतात्मा की

उन्नति का खयाल करना—पत्तों के ढेर को पेड़ समझना। प्रेमचन्द जी के शब्दों में 'कला का रहस्य है कृत्रिमता; पर वह कृत्रिमता जिस पर यथार्थता का आवरण पड़ा हो। कलाविद् अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ तोड़-मरोड़ करता है, कुछ घटाता है, कुछ बढ़ाता है, कुछ छिपाता है, कुछ खोलता है, तब उसका मनोरथ सिद्ध होता है।'

लेखक को कलाविद् होने का दावा नहीं और वह अपनी चीज के बारे में परिचय के अतिरिक्त अधिक कुछ नहीं लिखता। हां, लिखने का शौक लेखक को जरूर रहा है। कहानियां और स्कैच लिखने की उसकी प्रवृत्ति यह रही है कि जब तक उसके दिल पर चोट नहीं पहुंची, जब तक उसे कोई मनोवैज्ञानिक सत्य नहीं मिला और जब तक उसे भीतरी प्रेरणा नहीं हुई तब तक उसने कोई कहानी या स्कैच नहीं लिखा। प्रतिकूल परिस्थितियों से युद्ध करने की प्रवृत्ति ही जीवन है और जीवन एक कहानी है जिसकी गति नदी के प्रवाह के समान घटती-बढ़ती रहती है। उसका एक-एक अंग सामने आता है, और कहानी भी मनुष्य के जीवन के एक अंग का चित्रण है।

'बोलती प्रतिमा' मन्दिर की प्रत्येक प्रतिमा बोलती और सजीव है। हां, 'गीली लकड़ियां' और 'ऐमुन तैमुन और तिरिकिटता' मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित होते हुए भी लेखक के कल्पना-रूपी ताने-बाने से बनी हुई हैं। शेष सब लेखों, स्कैचों और कहानियों की सामग्री लेखक की अनुभूति ही समझना चाहिए। कठोर सत्य तथा संघर्ष, लेखक की मार्मिक वेदना, जीवन के घात-प्रतिघात और मानसिक द्वन्द्व का रूप ही शब्दों में है 'बोलती प्रतिमा'। यदि इस संग्रह को माला मान लिया जाय तो 'बोलती हुई प्रतिमा' इस माला की सुमेरु है। 'बोलती प्रतिमा'—स्व० भाई जगन्नाथ इसी लोक का एक प्राणी था और एक पहेली—ब्रह्म का एक विचित्र रूप—रोगी, उपकारी, अचल सजीव प्राणी, भाई, मातृरूप, दोस्त और एक रहस्य। 'ठाकुर की आन' एक सत्य घटना के आधार पर है। नाम और स्थान बदल दिए गए हैं। 'हरनामदास' अब भी जीवित है और 'हरनामदास' को पढ़कर पूज्य द्विवेदी जी भी चकित रह गये थे। 'वरदान'

के पात्र पर तो एक सुन्दर उपन्यास लिखा जा सकता है और उनकी लगन, साधना और सेवा इस कोटि की है कि हम में बहुत-से उनकी पदरज से पवित्र हो सकते हैं। 'पीताम्बर' का पंचभूत-अम्बर नष्ट हो गया, पर उसकी धवल कीर्ति अब भी कायम है। किसी भी लेखक के आन्तरिक द्वन्द्व, क्लेश और युद्ध-प्रवृत्तिजन्य विचारों का फल है—उसकी वसीयत। 'फीरोजाबाद की कालकोठरी' के बारे में कुछ लिखूंगा। वह तो हमारे जीवन की एक कालिमा है और मनुष्यता का पाठ पढ़ाने के लिए उसे अन्तिम सबक होना चाहिए। उसने दिल पर क्लेश का नासूर पैदा कर दिया है और फीरोजाबाद के कारखानों की चिमनियां उसी वेदना में अपने हृदय से आह-सी उगल रही हैं।

'अपराधी' के मुकदमे की कार्रवाई अखबारों तक में न निकली, वह भी कानून का शिकार था। 'चन्दा' अपनी गरीबी के पथ पर अब भी चला जा रहा है। 'रतना' की अम्मा कमान-सी बनी पिसाई-कुटाई करके अपने दिन बिता रही है।

'इकाई का सौदा' का पात्र संकटप्रसाद अपनी धुन में मस्त है, अपनी कहानी तुकबन्दी में सुना-सुनाकर लोगों को आह्लादित और आकर्षित करता है। 'शीर्षकहीन कहानी' जमींदारी प्रथा के दोषों का जीता-जागता प्रमाण है। मूल घटना पर—घटना के कैनवास पर—स्थानीय रंग चढ़ाकर उसे साहित्यिक रूप दे दिया गया है। नाम और स्थान बदल दिए हैं। 'इदन्न मम' एक रूसी पात्र का सजीव चित्रण है।

'बोलती प्रतिमा' की भूमिका श्रद्धेय पं० जवाहरलाल नेहरू लिखने वाले थे। पुस्तक की प्रति भी उनके पास भेज दी गई थी, पर राष्ट्रीय कार्यों के करते रहने के कारण पंडितजी को अवकाश नहीं मिला और भूमिका के लिए उन पर जोर देना देश पर ज्यादती करना होता। इसलिए उनसे फिर खासतौर से कुछ न कहा गया।

कोई पूछ सकता है कि 'बोलती प्रतिमा' की कहानियां और स्कैचों की क्या विशेषता है ? इसका उत्तर पाठक स्वयं दें। मैं तो केवल इतना ही कहूंगा कि यदि प्रस्तुत पुस्तक से पाठकों की कुछ भी मानसिक तृप्ति हो सकी; उनके विचारों में तनिक भी जागृति हो सकी और उनके भावों

में कुछ भी सजीवता के अंकुर उग सके, वेदना और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से उनके दिल पर सीधी चोट लग सकी, सहानुभूति के भाव जाग सके और दम्भ, उत्पीड़न, अत्याचार के प्रति उनमें विद्रोह की अग्नि सुलग सकी तो लेखक समझेगा कि वह अपने प्रयत्न में सफल हुआ और उसके टूटे-फूटे शब्द कुछ काम के निकले। इस पुस्तक की शैली और लेखन-कला पर पाठक ही अपना निर्णय करें।

—श्रीराम शर्मा

चित्रण

स्कैच लिखना—लेखनी की सहायता से ज्यों-का-त्यों चित्र खींच देना—कोई आसान काम नहीं। इसके लिए लेखक को कठोर साधना करने की जरूरत पड़ती है। जहां रंग के थोड़े गहरे या किंचित् हल्के होने से ही तसवीर बिगड़ सकती है, वहां तूलिका को कितनी सफाई, कितने चातुर्य के साथ चलाना चाहिए, इस बात का अन्दाज कोई कुशल चित्रकार ही लगा सकता है। इसके लिए सरस्वती के मन्दिर की आराधना तो अनिवार्य है ही; पर साथ-ही-साथ अपने व्यक्तित्व को सजीव बनाये रखना भी अत्यन्त आवश्यक है। जिस आदमी को जीवन के विविध अनुभव प्राप्त नहीं हुए, जिसने आंखें खोलकर दुनिया नहीं देखी, जिसे कभी जीवन-संग्राम में जूझने का मौका नहीं मिला, जो संसार के भले-बुरे आदमियों के संसर्ग में नहीं आया, मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघातों का जिसने अध्ययन नहीं किया और जिसने एकान्त में बैठकर जिन्दगी के भिन्न-भिन्न प्रश्नों पर विचार नहीं किया, भला वह क्या सजीव चित्रण कर सकता है ? पर इसके साथ-ही-साथ भाषा को भी संस्कृत करने की नितान्त आवश्यकता है। सभी अनुभवी आदभी अपनी अनुभूतियों को यदि लिख सकते, तो साहित्य-क्षेत्र आज प्रतिभाशाली लेखकों से भरे हुए दीख पड़ते।

व्यक्तित्व का विकास और भाषा का संस्कार (Culture) साथ-ही-साथ चलना चाहिए। यद्यपि हम इस बात को मानते हैं कि पहली चीज का दूसरी पर अत्यन्त प्रभाव पड़ता है; पर दूसरी उपेक्षणीय हर्गिज नहीं।

सफल चित्रण इन दोनों के सामंजस्य पर निर्भर है।

हिन्दी में स्कैच लिखने की कला का अभी प्रारम्भ ही हुआ है। स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा (सम्पादक जी) ने इस विषय में पथ-प्रदर्शक का काम किया था। 'पद्म-पराग' के कई स्कैच लाजवाब बन पड़े हैं। भावों के साथ भाषा का ऐसा मेल बहुत ही कम देखने में आता है। स्वर्गीय सम्पादक जी के बाद यदि किसी ने इस विषय में थोड़ी-बहुत सफलता प्राप्त की है, तो वे हैं 'बोलती प्रतिमा' के सुलेखक श्रीयुत श्रीराम शर्मा। वे इस विषय में स्व० पं० पद्मसिंह के असली उत्तराधिकारी हैं। जिस समय 'विशाल भारत' में श्रीराम जी के शिकार सम्बन्धी स्कैच निकल रहे थे, उस समय पूज्य पंडित जी ने इन पंक्तियों के लेखक को लिखा था—"श्रीराम जी तो उत्तरोत्तर गजब ढहा रहे हैं। बन्दूक से बढ़कर इनकी लेखनी का निशाना बैठता है, पढ़ने वाला तड़पकर रह जाता है। नजर से बचाने के लिए इनके दंड पर भैरव जी का गंडा बांध दीजिए।"

स्वर्गीय पं० पद्मसिंह जी ने अनेक बार श्रीराम जी की शैली को 'सजीव', उनके भाव-विश्लेषण को 'मनोविज्ञान-सम्मत' और भाषा को 'विषय के अनुरूप' बतलाया था। 'बोलती प्रतिमा' नामक पुस्तक ने श्रीरामजी की इस ख्याति को, जो उन्होंने शिकार-सम्बन्धी स्कैच लिखकर प्राप्त की थी, और भी बढ़ाया है। 'बोलती प्रतिमा' का हम इसलिए और भी स्वागत करते हैं कि वह लेखक के जीवन के मुख्य पहलू पर प्रकाश डालती है। अब तक लोग श्रीराम जी को 'शिकारी' ही मानते रहे हैं, यद्यपि श्रीराम जी को अपने इस परिचय से सख्त नफरत है; पर इसमें दोष उनका भी है। वर्षों से वे अपने कितने ही अच्छे-अच्छे लेख बिना नाम के अथवा उपनाम से छपाते रहे थे और इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि लोग उनके व्यक्तित्व का यथोचित अनुमान नहीं लगा सके।

'बोलती प्रतिमा' की प्रथम कहानी 'बोलती प्रतिमा' को पढ़कर रशियन कलाकार तुर्गनेव की 'A Living Relic' (प्राचीन काल की एक जीवित यादगार) की याद आती है। इस कहानी में श्रीराम जी ने अपने अनुज स्वर्गीय जगन्नाथ शर्मा का जो चित्रण किया है, वह हिन्दी-

साहित्य में एक अनोखी चीज है। इस स्कैच में निस्सन्देह उनकी कला का सर्वोत्तम विकास दीख पड़ता है।

"मसहरी के भीतर एक अचल शरीर चित पड़ा था। टांगें सिकुड़ी और इतनी पतली, मानो पतले बांसों पर खाल चढ़ा दी गई हो, और हाथ पौनी-से पतले। छाती इतनी भीतर को घुसी हुई कि पीठ से लगी हुई और इतनी गहरी कि उसमें सेर-दो सेर अन्न भरा जा सकता था। हां, उस चेहरे में दो आंखें ही थीं, जिनकी पुतलियां चलती थीं और जिनके चलने से उस अचल शरीर की स्वाभिमानी आत्मा आंखों के आस-पास कहीं उलझी मालूम होती थी। हाथों की उंगलियां कभी-कभी हिल जाती थीं; पर उनमें इतनी गति नहीं थी कि वे किसी चीज को उठा सकें। उस जीवित शव को देखकर मुझे बड़ी दया आयी, और क्षमा मांगने के रूप में मैंने कहा—'मेरे कारण आपको कोई कष्ट हुआ हो, तो माफ कीजिए। मुझे नहीं मालूम था कि आपको इतना कष्ट होगा।' " ('बोलती प्रतिमा')।

भाई जगन्नाथ को हमने अपनी आंखों से देखा था और उनकी स्मरण शक्ति तथा प्रबन्ध-पटुता को देखकर हम आश्चर्य में पड़ गए थे। चौदह वर्ष तक उन्होंने जो घोर तपस्या की थी, उसका शब्दों द्वारा वर्णन करना असम्भव है।

'बोलती प्रतिमा' की तरह 'फीरोजाबाद की कालकोठरी' में भी शर्माजी की लेखनी का चमत्कार दीख पड़ता है। डॉक्टर जीवाराम जी, जो अपने बच्चों के साथ उस नृशंस हत्या के शिकार हुए थे, शर्माजी के चचेरे भाई थे। जिस समय शर्माजी प्रश्न करते हैं—"क्या निर्दोष बच्चों के वध और विधवा की आहों में कुछ शक्ति है? क्या वे पुरअसर हो सकती हैं और पुरअसर होकर विघ्न-बाधाओं को चीरती वे क्या हमें उस आदर्श पर ले जा सकती हैं, जहां से हम सभ्यता का पहला पाठ, मानवता की अ-आ-इ-ई सीख सकें—आदमी को आदमी समझें? हमें तरस आता है मुस्लिम युवकों पर! क्या वे इतने कायर हैं? क्या वे इतने पतित हो गए हैं कि उन्हें अपने देश और मानवता का कुछ खयाल नहीं है?··· हिन्दू, मुसलमान और नौकरशाही तनिक हमें बतायें—हमें न बतायें, तो

बिलखती विधवा को, उसके बिछुड़े पति और बिलखकर प्राण देने वाले बालकों की खातिर ही बतायें कि फीरोजाबाद के मुसलमानों ने इतने निर्दोष मानवी पुतलों के खून से अपने हाथ क्यों रंगे हैं?" उस समय सरकार और मुसलमानों के लिए सिवा इसके कि वे लज्जा से सिर झुका लें, और कोई चारा नहीं।

लेखक की सहृदयता और उनके सात्विक क्रोध का अनुमान निम्नलिखित पंक्तियों से लग सकता है—

"जेठ की दुपहरी में, जब पशु-पक्षियों ने पेड़ों की शरण ले ली थी, मैं पक्की सड़क से घर की ओर को लपका जा रहा था। कोई आध मील ही जाना था, और ऊसर में होकर था रास्ता। दूर से कुदाली की आवाज सुनाई पड़ी। मैंने सोचा कि ऐसा कौन-सा पागल है, जो लू में कंकड़ खोद-रहा है। खयाल किया, कोई कामचोर ठेके वाला होगा, जो प्रातःकाल तक सोता होगा और दोपहर को काम करता होगा। पास आया, तो चौंककर खड़ा हो गया। शीघ्र ही पालागन से अभिवादन हुआ।

'अरे चन्दा, मरेगा क्या? जीव-जन्तु घबराकर पेड़ों के नीचे हैं, और तू दुपहरी अपने ऊपर काट रहा है!' मैंने भर्त्सना की भावना से कहा।

'पंडितजी, मरना तो है ही। मेहनत करके क्यों न मरूं? छाया और आराम पशु-पक्षियों को बदा होगा। यहां तो भाग्य में जहर भी नहीं।' वेदना-मिश्रित मुसकान से चन्दा ने कहा।

लंगोटा पहने, नंगे शरीर, नंगे पैर और कुदाली के सहारे चन्दा खड़ा था। उसकी दग्ध आत्मा उसके रोम-रोम से प्रस्फुटित होकर जमींदारी-प्रथा को शाप दे रही थी। मैं दो मास उपरान्त गांव में आ रहा था। चन्दा की बेदखली और परेशानी सुनकर हृदय को एक चोट लगी। मन-ही-मन मैंने कहा कि चन्दा कंकड़ों का गड्ढा नहीं खोद रहा है, वरन् 'जमींदारी-प्रथा की कब्र' जिसमें यदि अत्याचार की यही गति रही तो, जमींदारी-प्रथा की पूतना गड़ जायगी। 'अरे, तू दो-चार धड़ी नाज मेरे भाई जगन्नाथ से ले आता।' मैंने शिकायतन कहा।

'मांग-जांचकर कब तक काम चलाता? ले तो आया था; पर फिर

दुबारा जाने की हिम्मत न हुई ।' चन्दा ने नीचा सिर करके कहा ।

मैं—'चल मेरे साथ ! पहले खाना खा और घरवालों को आटा-दाल पहुंचा ।'

चन्दा—'सो पंडितजी, आपका ही खाता हूं । आज ही ठेका लिया है। कंकड़ खोदकर ठेकेदार को दिखाना है, नहीं तो ठेकेदार निकाल देगा ।'

मैं—'चल, ठेकेदार से मैं भुगत लूंगा ।'

घर आकर चन्दा को खाना खिलाया । उसकी पेट की ज्वाला का वश चलता, तो पेट फाड़कर निकल पड़ती और सब खाना खा जाती । पानी पीकर चन्दा कुछ लेटा और अरहर की दाल और आटा लेकर घर पहुंचा ।"

जरा आगे का दृश्य देखिये—

"घर में तीन थालियां, एक बटलोई और एक कटोरा था । दोनों बहुओं ने एक थाली में भोजन परोसा । चन्दा ने अपनी थाली में एक बालिश्त ऊंची रोटियां परसीं । उसकी मां ने पानी रखकर कौर तोड़ा । एक-आध रोटी ही वे लोग खा पाये होंगे कि एकदम चन्दा के मकान में बीसों आदमी भर गये । वे कुर्की वाले और जमींदार के गुर्गे थे । भूखे कुटुम्ब के सामने से परसी थालियां पकड़ ली गईं । एक ओर से परसी हुई थालियों को स्त्रियां खींच रही थीं और दूसरी ओर से जमींदार के गुर्गे । भूख और नृशंसता में रस्साकशी थी । पीड़ित और अत्याचारी का युद्ध था । स्त्रियों और चन्दा के पेट में छिपी भूख ने तड़पकर अपनी सारी शक्ति हाथों को दे दी । आंखों की ज्योति ने हाथों को बिजली दी, और एक-एक आदमी उन भुक्खड़ों के हाथ से थालियां न छीन सका । तब और आदमियों ने औरतों के हाथों को एक ओर को खींचा और दूसरी ओर को थालियां खींची गईं ।"

ऐसे दृश्यों को देखकर बीसियों बार श्रीरामजी की आंखों में खून उतर चुका है, और आज यदि उनकी भाषा में ओज और शब्दों में ताकत है, तो वह इस प्रकार की अत्यन्त कष्टप्रद अनुभूतियों का परिणाम है । कोई साधारण मनुष्य—बेपानी का आदमी इन दृश्यों को देखता, तो

उसकी आत्मा और भी निर्जीव बन जाती, और वह यह कहकर अपने मन को समझा लेता—'दुनिया में ऐसा होता ही रहता है, किस-किस के लिए रोया जाय ?' पर श्रीरामजी उन आदमियों में से नहीं हैं। उन दृश्यों ने उनकी अन्तरात्मा को प्रज्वलित कर दिया है। उन्होंने पिछले पन्द्रह वर्षों में अपने आस-पास के किसानों को नैतिक बल देने के लिए जो काम किया है, उसका वर्णन करने के लिए यहां स्थान नहीं है।

अभी उस दिन एक महानुभाव ने एक मनोरंजक किस्सा सुनाया—"हमने अपने गांव के लिए इक्का किया ही था कि इतने में दारोगाजी के सिपाही ने इक्केवाले को डांटते हुए कहा—'कहां जाता है ? चल बे, दारोगाजी ने बुलाया है।' इक्केवाला होशियार था, प्रत्युत्पन्नमति था, तुरन्त ही बोला—'मुझे चलने में कोई एतराज नहीं पर पंडितजी के गांव किरथरे जा रहा हूं।' इस पर सिपाही ने झेंपकर कहा—'तो जा, रहने दे।' इक्केवाला अपनी सूझ के कारण बेगार से बच गया !" यह घटना श्रीरामजी के नैतिक प्रभाव का अनुमान कराने के लिए पर्याप्त है। श्रीयुत ब्रैलसफोर्ड जैसे संसार-प्रसिद्ध और सजीव पत्रकार भी, जो शर्माजी के ग्राम पर हो आये थे और आस-पास घूमे थे, शर्माजी के इस नैतिक प्रभाव के कायल हुए थे।

जोरदार भाषा लिखने के लिए प्रकृति से निकट संसर्ग तथा किसानों-मजदूरों से सम्पर्क कितना अधिक आवश्यक है, इसका हम लोगों ने कभी अनुभव ही नहीं किया। सौभाग्य से दोनों ही चीजें वर्षों से श्रीरामजी को प्राप्त रही हैं। दरअसल प्रकृति ने उन्हें शारीरिक तथा साहित्यिक अकाल-मृत्यु से बचाया है। निम्नलिखित वाक्य हमारे कथन का प्रमाण है—

"कई वर्ष की बात है। भाग्य-भंवर के थपेड़ों से व्याकुल, शरीर से क्लान्त और सम्बन्धियों तथा मित्रों से त्याज्य, एक प्रकार से उपेक्षित और भुलाया हुआ—मैं कष्टों के रसातल की ओर धीरे-धीरे सरक रहा था। न कहीं आना था, और न कहीं जाना। लोग मुझे एक प्रकार से भूल-सा गये थे। कष्ट-पीड़ित व्यक्ति को अनेक लोग मूर्ख और निकम्मा भी समझते हैं। मेरे प्रति कई एक की ऐसी धारणा थी—ऐसा मेरा खयाल

था। मैं भी उनकी उपेक्षा करता था; पर था मैं दुखी। उन दिनों कोई ऐसा साथी भी न मिलता था, जिससे मन की व्यथा कहकर हृदय को कुछ हलका कर सकूं। पके आम की भांति भीतर-ही भीतर घुला जाता था। कुटिया के आस-पास काफी रौनक थी। पुराने मित्र—वृक्ष—डालियों के संकेत से बुलाते भी थे। मैं उधर जाता भी था, और वहां एकान्त में अन्तर्मुखी दुःख तरल होकर आंखों को निस्तब्ध कन्दरा के दो झरनों के रूप में परिवर्तित कर देता था। फोड़े का मवाद निकलने से जैसे कुछ चैन मिल जाता है, उसी भांति तबीयत में कुछ हलकापन तो आ जाता था; पर वहां से हटने के बाद वह दिल का फोड़ा दुखकर भर जाता था। भरियाफूटा फोड़ा, कितना दुःखदायी होता है—विशेषकर मानसिक कष्टरूपी फोड़ा, इस बात को भुक्तभोगी ही महसूस कर सकता है। हर समय मेरे लिए वही रोना था, इसलिए मेरी दशा पिंजड़े में बन्द उस पक्षी की-सी थी, जिसके लिए—

> 'खिजां क्या फसले गुल कहते हैं
> किसको कोई मौसम हो,
> वही हम हैं, कफस है और
> मातम बालोपरका है।'

पर युद्ध करने की प्रवृत्ति, अथवा भगवान् की प्रेरणा से दृष्टि सर्वदा आशा-प्रभात की ओर रही है; इसलिए डेढ़ वर्ष उपरान्त उस अन्धकार-काल में एक आशा-किरण दिखाई पड़ी, और सबसे पहले मैंने शिकार खेलने का प्रोग्राम बनाया, और वह भी सात-आठ दिन के लिए।"

श्रीरामजी की प्रभावशाली लेखन-शैली में टिहरी-गढ़वाल के वन्य प्रदेशों का जितना हाथ है, उतना ही जमनाजी की आस-पास की भूमि का—खारों का—है, और अपने शब्द-भण्डार के लिए वे जितने हिन्दी-उर्दू लेखकों के ऋणी हैं, उतने ही चन्दा, गोविन्दा तथा पीताम्बर के भी हैं। वन्य प्रदेशों के भ्रमण ने श्रीरामजी को प्राचीन काल के आश्रमों का कायल बना दिया है, और वे इस बात को भली-भांति समझ गए हैं कि भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत कण्व और विश्वामित्र के आश्रमों में ही

था। एक जगह उन्होंने लिखा था—

"पड़ाव से पश्चिम की ओर जाने में कोई मगर न मिला। इतने तड़के वसन्त ऋतु में मगर निकलते ही नहीं; पर मुझे तो शिकार के अतिरिक्त सैर और प्रकृति-दर्शन का शौक था। हमारे पूर्वज वन-जीवन-सेवन को जीवन और शिक्षा का मुख्य अंग समझते थे। राजा दिलीप की गोरक्षा में पुत्र की लालसा तो थी ही, पर साथ ही, लाभ में उन्होंने जीवन के मूलमन्त्र को—सादे जीवन के रहस्य को—सीखा, और उस मन्त्र को जब उनके वंशजों ने भुलाया, तभी उनका पतन हुआ। कृष्ण का गाय चराना और ईसा तथा मुहम्मद का भेड़-बकरी चराना गहरे मानी रखता है। मुझ-जैसे क्षुद्र व्यक्ति के लिए भी वन-जीवन बड़ा लाभप्रद है। मैंने मनुष्यों के सामाजिक जीवन की जड़ें पशु-पक्षी-जीवन में पायी हैं। वास्तविक जंगली व्यक्ति का मैं तो कायल हूं। मैं इस बात को मानता हूं कि केवल षड्दर्शन से मोहन के दर्शन नहीं होते। मैं तो वड्सवर्थ की इस बात का कायल हूं कि—

'One impulse from varnal wood,
May teach you more of man,
Of moral evil and of good,
Than all the sages can.'

पर चाहिए आंखवाला। मैं भी कोई आंखवाला नहीं; पर वह अन्धा हूं, जिसको झाईं मारती है। पता नहीं, आगे और खुलती हैं, या बन्द होती हैं।"

निम्नलिखित वाक्यों की सजीवता को देखिए—

(क) "गंगा की सखी-सहेलियों—सहायक नदियों—में यों एक-से-एक बढ़कर और मदमाती हैं। चढ़ने पर—भरी जवानी—बरसात में उनके आनन्द-विभोर—उल्लास, नख-शिख-सौन्दर्य, आकर्षक और गजब ढाने वाली चंचलता की कौन प्रशंसा करे? यमुना की व्रजकेलियां, सरयू की अठखेलियां, सरस्वती की अगोचरता और मदकारी सोनभद्र का फहराता हुआ सुनहरा चीर देखते ही बनता है; पर रामगंगा का भृकुटि-विलास और भाव-भंगी बेजोड़ ही है। गंगा महारानी की किसी भी

यौवन-मदमाती सखी का यह ताव नहीं कि रिझाने की किसी भी कला में रामगंगा को हरा सके। गात की मझोली, भाव की गम्भीर रामगंगा की छटा को बरेली, मुरादाबाद, शाहजहांपुर, फर्रुखाबाद और हरदोई के जिले में देखिये। हरित तृणों की झालरदार साड़ी पहने, उभरे गात से, फुदकती और मचलती, मुड़-मुड़कर देखती और यौवन-बाढ़ में अनेक मस्त वृक्षों को बहाती रामगंगा एक विचित्र ही नदी है। अनेक मकानों को अपने गर्भ में रखती—भोजन-सा करती—मीलों तक खेतों को जलमग्न करती, मानवी नयी-नवेलियों से होड़ लगाकर वह गंगा से मिलने बढ़ती है। किसी-किसी गांव के पास तो उसे पीहर की याद आ जाती है, और लौट-लौटकर चक्कर लगाकर घायल सांप की भांति पलटा खाकर—कुछ ढूंढती-सी वह अपना मार्ग बनाती और गांव को प्रायद्वीप बना डालती है।"

(ख) "थके-मांदे शरीर में नींद का नशा आ जाने से रात ढलते फिर आंख खुलने की आशा न थी और पीसने का ढेर रखा था। तोता घास भी न छील पाया था और प्रातःकाल गहरी ओस में घास छीलने का सवाल ही न था, इसलिए आधा काम—पिसाई करना ही था, इसलिए चमेली ने अपनी चक्की चलाई। दो टोकनों में गेहूं भरे रखे थे। चक्की में कौर डालकर उसने पीसना प्रारम्भ किया। मनोव्यथा की उपेक्षा करने के लिए डढ़े को दाएं और बाएं हाथ से बारी-बारी से पकड़कर चक्की चलाते हुए उसने गाया—

'जंजारी जियरा
धन्धौ करत जनम योंइं गयो।'

ऊपर आकाश का पाट अनेक नक्षत्रों से जटित संसार की चक्की अविचलित गति से चला रहा था। कटोरा की दीपावली के दीये अभी बुझे नहीं थे। लोगों ने खील-बताशे अभी चाब नहीं पाये थे।"

(ग) "जॉनीवाकर की बोतल खुली—घच्च; और गले के नीचे वह पेय उतरा—गटर-गटर। आंखों में सुरूर, चेहरों पर नूर और सामने सब साज-सामान। बस, आज्ञा हुई कि मुजरा जमे। पहले नाच का हुक्म हुआ और परमलू नाच का। उस्ताद जी ने पलथी मारे बैठकर हाथ

से गति करते हुए बोल कहे—'तक कत तक दिग तक दिग गदि कत जगत कूक तक तक दिग तिं जय तग तरांग तग धिलांग धिधि धिन झझन नाड़ धिग झझन ड़ान थू कतत कतत कत गिदिन्नाड़ ता धा।' ता धा की समाप्ति पर चौपाल की धूमिल ज्योति में बिजली-सी चमकी और विद्युत्-गति से नर्तकी ने न-मालूम कितने चक्कर काटे और एकदम ऐसे रुकी कि उसकी भाव-भंगी और रुकने से ता धा का ब्रेक लग गया। 'वाह्-वाह्', 'खूब-खूब' की ध्वनि और सिर झुकाकर प्रशंसा-स्वीकृति के उपरान्त गाने का नम्बर आया। तबला ठनका 'धा धी धीना नाधी धीना, नातीतीना, नाधीधीना', और हारमोनियम पर उंगलियां चलीं स ग म प नि ध नि स स नि ध प म ग रे स और अधखुले नेत्रों, गोरी उंगलियों से लट को संभालकर तिरछी चितवन और हाथ को आगे बढ़ाकर उसने खम्माच राग में गाया—

राजा जानी मारो ना नयनवां के तीर।

वाह-वाह ! बढ़ी रहो। क्या कहने ! शराब और गाने में ब्राह्म मुहूर्त्त हो गया।"

श्रीरामजी की त्रुटियां

हम पहले लिख चुके हैं कि श्रीरामजी के बाज-बाज स्कैच पढ़कर तुर्गनेव की याद आ जाती है। इससे हमारा यह अभिप्राय हर्गिज नहीं है कि किसी भी अंश में श्रीराम जी की उस अमर कलाकार से तुलना हो सकती है। ऐसा कहना कुफ्र होगा। स्वयं श्रीराम जी संसार के उस सर्वश्रेष्ठ कलाकार का यह अपमान सहन नहीं कर सकते। उनकी सहज विनम्रता इस बात को कल्पना में भी नहीं ला सकती। तुर्गनेव उन दृश्यों से, जिनका वे चित्रण करते थे, अपने को ऊपर उठाकर उन पर एक तटस्थ—निर्लिप्त मनुष्य की-सी दृष्टि डाल सकते थे; पर श्रीराम जी के लिए यह असम्भव है। आंखों से जुल्मों को देखते हुए और कुछ अंशों में सहते हुए भी उनके लिए तटस्थ मनोवृत्ति रखना नामुमकिन है।

उच्चकोटि के कलाकार के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह उपदेशक या प्रचारक न बन जाए। श्रीरामजी अपनी परिस्थितियों के

कारण कला की उस उच्चता को प्राप्त करने में असमर्थ हैं। अगर उनसे ऐसा कोई कहे भी, तो वे यही जवाब देंगे—'भाड़ में जाय आपकी कला ! मैं कलाकार बनने का दावा नहीं करता। जो-कुछ दृश्य मैं नित्यप्रति देखता हूं, उन्हीं का चित्रण करता हूं। यदि इससे मैं प्रचारक समझा जाऊं तो मैं बुरा नहीं मानने का। अन्याय के विरोध में प्रचार करना मैं गौरवजनक ही मानता हूं।'

जहां चन्दा चमार जमींदारी-प्रथा की पूतना की कब्र खोद रहा है, वहां वे निष्पक्ष दर्शक की भांति खड़े नहीं रह सकते। खुद फावड़ा लेकर पिल पड़ना चाहते हैं और फिर ऊपर से ऐसी पक्की चिनाई भी करना चाहते हैं कि वह पूतना फिर न उठ बैठे। तुर्गनेव जहां इशारा-भर करके चुप रह जाते हैं, वहां श्रीरामजी को पाठक के दिमाग में कील ठोककर समझाना पड़ता है। एक और विषय है, जहां श्रीरामजी तुर्गनेव से मीलों पीछे रह जाते हैं, वह है प्रेम का विषय। इस विषय में वे बहुत कुछ प्राचीनतावादी हैं, और भारतीय सामाजिक परिस्थितियों के कारण तथा अपने संकोचशील स्वभाव की वजह से 'प्रेमपयोनिधि' में धंसने की उनकी हिम्मत ही नहीं हो सकती। रस तो क्या, वे रस की भस से भी दूर रहना चाहते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि श्रीरामजी की रचनाओं में कोमलता नहीं पायी जाती, जो अनुभवी कलाकारों की रचनाओं में होनी चाहिए। पर कोमलता के इस अभाव ने उनकी रचनाओं को स्त्री पाठिकाओं के लिए और भी अधिक आकर्षक बना दिया है। 'शिकार' पढ़कर कुछ स्त्रियों ने जो प्रशंसात्मक चिट्ठियां शर्माजी को भेजी थीं, उनमें अत्युक्ति-अलंकार की भरमार थी।

श्रीरामजी की लेखन-शैली की लोकप्रियता का एक कारण और भी है, वह यह कि वे अपनी रचनाओं में मुक्त आकाश, स्वतन्त्र वायु तथा स्वाधीनता-प्रेमी पशु-पक्षियों को खूब ला सके हैं। लेखक के लिए यह आवश्यक है कि वह पृथिवी, आकाश, जल, जन-समाज, पशु-पक्षी और वृक्ष—इन सबसे सम्बन्ध रखे, और जैसा कि हम कह चुके हैं, श्रीरामजी इस बारे में बड़े सौभाग्यशाली हैं। पशु-पक्षियों के विषय में तो इतना अच्छा ज्ञान बहुत कम हिन्दी-लेखकों को होगा। ग्रामों के सजीव शब्दों का प्रयोग भी उनकी

लेखन-शैली को मनोरंजक बना देता है। उनकी 'पनपथी' की याद पूज्य द्विवेदीजी भी कर लिया करते हैं, और अभी उस दिन हमें एक व्रजवासी कविवर का पत्र मिला, जिसमें उन्होंने श्रीरामजी द्वारा 'धौंदुआ' के प्रयोग पर अपना हर्ष तथा सन्तोष प्रकट किया था। हमें विश्वास है कि श्रीरामजी इस प्रकार कितने ही ग्रामीण शब्दों को शुद्ध कर भाषा की बिरादरी में मिला देंगे।

आज से कई वर्ष पहले पूज्य द्विवेदीजी के दर्शनार्थ हम लोगों ने दौलतपुर की तीर्थ-यात्रा की थी। उस समय द्विवेदीजी ने मुझसे कहा था—'चौबेजी, इनसे (श्रीरामजी से) हिन्दी लिखना सीखिये।' मुझे इस बात से अत्यन्त हर्ष हुआ था (इस खयाल से कि भाषा सीखने के लिए मुझे घर से दूर नहीं जाना पड़ेगा); पर श्रीरामजी आचार्यजी की इस प्रशंसा से बिलकुल झेंप गये। पीछे उन्होंने मुझसे कहा—"पूज्य द्विवेदीजी की इस बात को अपने ही तक रखिये।"

मुझे खेद है कि मैं उनकी इच्छा के विरुद्ध इस बात को आज उद्धृत कर रहा हूं; पर साथ ही यह भी कह देना उचित समझता हूं कि श्रीरामजी की भाषा से कहीं अधिक महत्त्व देता हूं मैं उनके मनुष्यत्व को। उन-जैसे परदुःखकातर व्यक्ति हिन्दी-जगत् में विरले ही होंगे। यदि चार शब्दों में उनका परिचय देना हो, तो यह कहना काफी होगा कि 'श्रीरामजी मर्द आदमी हैं', और 'बोलती प्रतिमा' के प्रत्येक शब्द के पीछे उसी मर्द का एक अद्भुत अक्खड़पन है, खरी आवाज है और एक प्रबल आत्मा है, जो स्पष्ट शब्दों में अन्याय और अत्याचार को निरन्तर ललकार रही है।

कलकत्ता

—बनारसीदास चतुर्वेदी

बोलती प्रतिमा

क्रम

बोलती हुई प्रतिमा

वसन्त को ऋतुराज मानने का एक कारण कदाचित् यह भी हो कि उसके सुखद शासन में न तो शीत का दौरात्म्य रहता है और न गरमी की उग्रता दिखाई देती है। समदर्शी नरेश की भांति ऋतुराज सभी प्रकृतियों के लोगों को—गरमी, जाड़ा और आर्द्रता पसन्द करने वालों को—समदृष्टि से देखता है। जो सबको समदृष्टि से देखे, वह मान्य—राजा—तो हुआ ही। शीत से त्रस्त, कम्बल और रजाइयों में से सिर निकालकर चाय और हुक्का पीने वालों से लेकर शीतकाल के प्रेमियों तक के लिए वसन्त एक आदर्श ऋतु है। ऋतुराज की छबीली छटा का प्रदर्शन होता है, उसके यौवनकाल में। यौवन के गुदगुदाते ही बालाओं की पगस्थित चंचलता के पैर उखड़ जाते हैं। वह ऊर्ध्वरेती होकर ललाटस्थित दो मैगजीनों—आंखों—में किलेबन्दी कर लेती है, और ऋतुराज में जब यौवन की आभा झलकती है, तब पेड़ और झाड़ियों के आस-पास की चंचलता, इधर-उधर से हटकर, उनकी आंखों—फूलों—में जा बसती है, इसीलिए अनेक लताएं और शाखाएं, नवेलियां बनीं, फूलों से गुंथी बेनी को हिलाकर बहुत से टहलनेवालों को मोह लेती हैं। फिर वसन्त में टहलनेवालों की संख्या का क्या ठिकाना! वसन्त में तो टहलनेवालों की—शहर के टहलनेवालों की—संख्या ऐसे बढ़ जाती है, जैसे बरसात में नदियों की बाढ़।

रही उनकी बात, जो टहलने के अतिरिक्त शिकार के भी शौकीन

हैं; सो उनमें से बहुतेरों को मटरगश्ती शिकार की धुन सवार हो जाती है। मटरगश्ती शिकार में शिकार खेलना ही मुख्योद्देश्य नहीं होता, वरन् टहलने और प्रकृति-निरीक्षण पर भी लक्ष्य रहता है। उस समय हाथ में बन्दूक या रायफल होती है, जेब में कुछ कारतूस पड़े होते हैं। अनायास ही कोई चीज मिल गई, तो फायर कर दिया, नहीं तो घूम-घामकर घर लौट आये, या यदि शिकार के लिए कहीं पड़ाव पड़ा हो, तो वहीं लौट गये।

एक दिन मैं वसन्त की तरुणाई में मटरगश्ती शिकार को गया। बारह नम्बर की बन्दूक ले ली, और जेब में छः-सात कारतूस डालकर घूमने निकल पड़ा। मटरगश्ती शिकारी की दशा तृप्त शेर की-सी होती है, जो मस्त चाल से अपनी मांद की ओर लौटता है, और घात लगाकर नहीं चलता। छोटा-मोटा शिकार मिल जाने पर भी वह उसकी ओर खूनी दृष्टि से नहीं देखता, वरन् खटके से भागे हुए शिकार को देखकर यह कहता प्रतीत होता है—'जा चला जा, समझता होगा कि अपनी चालाकी से बच गया।' अस्तु, घूमते-घामते मैं काफी दूर निकल गया। ध्यान शिकार की ओर तो था ही नहीं, खेतों और पेड़ों पर ही विचार-बिन्दु एकाग्र हो रहा था, और रह-रहकर मनुष्य की क्षुद्रता और बेबसी का खयाल आ रहा था। प्रतिवर्ष, कुछ पेड़ों को छोड़कर, सभी पेड़ों पर जवानी आती है, पुराने पत्तों के स्थान में नवीन चिकने पत्ते निकलते हैं। पेड़ों की नस-नस से जवानी बरसती है। किसी-किसी आम पर तो मोटी शाखा से भी बौर फूट पड़ता है। वसन्त में हर साल पेड़ों का कायाकल्प होता है। उनकी सभी शक्तियां जाग्रत हो जाती हैं। विशालकाय और गगनचुम्बी डेढ़-दो सौ वर्ष पुराने पीपल को वसन्त ऋतु में देखिये। नयी, ओजपूर्ण और कोमल पत्तियों से सजा दूल्हा बना वह अपनी वार्षिक कायाकल्प-क्रिया पर उतना ही मुग्ध होता है, जितना तीस-चालीस वर्ष का पट्ठा पीपल। पेड़ जब तक जीते हैं, तब तक वे प्रतिवर्ष युवावस्था प्राप्त करते हैं। बहुत से पक्षी भी इस ऋतु में जवान हो जाते हैं। उनकी चाल-ढाल और बोली से जवानी टपकती है। क्या ही अच्छा होता, यदि मनुष्य भी पेड़ों की भांति प्रतिवर्ष इसी ऋतु में अपनी खोयी हुई शक्ति पा

सकता—कामुकता और लम्पटता के लिए नहीं, वरन् जीवन को अधिक सुखी बनाने के लिए। मनुष्यों की अपेक्षा ये अचल प्राणी कितने अच्छे और कैसे भाग्यशाली हैं इस दृष्टि से !

कई मील जा निकला, पर बन्दूक चलाने का कोई अवसर ही न मिला। हिरन मिले, लेकिन सब छोटे; बड़े हिरन की खोज करने का विचार ही न था। मटरगश्ती शिकार ही जो ठहरा। फिर चारों ओर पड़ी वसन्त की सेना में से निकलकर एक हिरन के पीछे जाना कोई आसान काम न था, और तिस पर वसन्त के जादू की लकड़ी हिरनों पर भी फिरी हुई थी। दो घंटे लगातार घूमते रहने से कुछ गरमी मालूम होने लगी। एक मील पीछे एक सुहावनी कुटिया छोड़ आया था। केले और पपीते के पेड़ कुटिया से ऊपर उठे दूर ही से दिखाई पड़ते थे। गांव से लगी वह कुटिया बड़ी आकर्षक मालूम होती थी। वहां कुछ देर आराम करने के विचार से मैं लौट पड़ा। अब दार्शनिक उधेड़-बुन भी बन्द हो गई। लगातार चलने की गरमी और भूख ने विचारों की परकैंच करके मानो कहा—

"ऐ दिल हवाए जुल्फ शिकन दर शिकन को छोड़।"

कुटिया पर आया, तो चारों ओर शान्ति का राज्य दिखाई पड़ा। हां, कुटिया से लगे कुएं की मनि पर कुछ कबूतर गुटर-गूं, गुटर-गूं कर रहे थे। मेरी आहट से किसी को कोई असुविधा न हो, इस खयाल से मैं दबे पांव कुटिया की ओर बढ़ा; पर मैं कुएं तक ही जा सका था कि कुटिया के भीतर से किसी ने कड़ककर पूछा—"कौन है ?"

'कौन है ?' की ध्वनि से मैंने समझा कि कुटिया में बैठा व्यक्ति मेरे आगमन को पसन्द नहीं करता, इसलिए मैं कुएं के निकट ही ठिठक गया, और कुछ कहने ही को था कि कुटिया से फिर आवाज आयी—"अरे भाई, कौन हो ? बोलते क्यों नहीं ? भीतर आओ।" ये शब्द कुछ ऐसी दृढ़ता से कहे गये थे, मानो उन शब्दों का कहने वाला ऐसे प्रश्न करने का अभ्यस्त हो।

"मैं एक यात्री हूं," कहकर मैं आगे बढ़ा, और कुटिया में पहुंचकर

इधर-उधर नजर दौड़ाई परन्तु वहां कोई आदमी दिखाई न पड़ा। कुटिया के बीच में एक चारपाई बिछी थी और उस पर मसहरी लगी थी।

"आप कहां से आये हैं ? पानी पीना हो, तो वह कुरसी पड़ी है, उस पर बैठ जाइये, अभी कोई आदमी आता होगा, पानी पिला देगा।" ये शब्द मसहरी के भीतर से किसी ने कहे थे। पास जाकर देखा, तो मैं दंग रह गया। मसहरी के भीतर एक अचल शरीर चित पड़ा था। टांगें सिकुड़ी और इतनी पतली मानो पतले वांसों पर खाल चढ़ा दी गई हो, और हाथ पौनी-से पतले। छाती इतनी भीतर को घुसी हुई कि पीठ से लगी हुई और इतनी गहरी कि उसमें सेर-दो सेर अन्न भरा जा सकता था। हां, उस चहरे में दो आंखें ही थीं, जिनकी पुतलियां चलती थीं, और जिनके चलने से उस अचल शरीर की स्वामिनी आत्मा आंखों के आस-पास कहीं उलझी मालूम होती थी। हाथों की उंगलियां कभी-कभी हिल जाती थीं; पर उनमें इतनी गति नहीं थी कि वे किसी चीज को उठा सकें। उस जीवित शव को देखकर मुझे बड़ी दया आई, और क्षमा मांगने के रूप में मैंने कहा—"मेरे कारण आपको कोई कष्ट हुआ हो, तो माफ कीजिये। मुझे नहीं मालूम था कि आपको इतना कष्ट है।"

रोगी—"अरे साहब, तो क्या हुआ ? बैठिये न। मेरे कष्टों की क्या बात है ? कोई दो-चार दिन की बात थोड़े ही है।"

मैं—"तो आप कब से बीमार हैं ?"

रोगी—"इन बातों को न छेड़िये। शरीरं व्याधि-मंदिरम्। आप सुस्ता लीजिये। कहां रहते हैं ? किधर से आना हुआ ?"

मैं—"मुझे आप एक यात्री समझें। शिकार खेलने के लिए इधर आया हूं। आज टहलने की जी में आ गई, तो जिधर को मुंह उठा, उधर चल दिया। देखता-भालता इधर आ निकला।"

रोगी—"तो आप शिकारी हैं ?"

मैं—"जी नहीं, पेशे से शिकारी नहीं हूं; यों शिकार का शौक है। वैसे लिखने-पढ़ने—कलम घिसने वाला आदमी हूं।"

रोगी—"तो फिर शिकार आपके लिए गुनाह बेलज्जत वाली बात है।"

मैं—"कुछ समझ लीजिये; पर···"

"कौन है ? पाती ?" मेरी बात अधसुनी कर शैयाशायी रोगी ने बाहर की ओर कान लगाते हुए कहा।

"हां, पंडितजी !" पाती ने उत्तर दिया ।

"डोल मांजकर ताजा पानी कुएं से लाओ, और घर कह दो कि मेरे खाने के अतिरिक्त एक थाली और भी आयेगी।" रोगी महाशय ने सुप्रबन्ध की ध्वनि में कहा ।

अपनी बात के पुराने सिलसिले को छोड़कर मैंने कहा—"आप को आखिर यह रोग क्या है, और कब से है ?"

रोगी—"रोग क्या बताऊं ? जब डॉक्टरों और वैद्यों की समझ में ही नहीं आता कि क्या रोग है, तब मैं क्या नाम बताऊं ? बस, कर्म-भोग रोग समझ लीजिये।"

मैं—"मालूम होता है, आपने इसका इलाज किसी अच्छे डॉक्टर से नहीं कराया।"

रोगी महाशय की आंखों से मैं ताड़ गया कि वे एक अपरिचित व्यक्ति के इस प्रकार के अशिष्टतापूर्ण प्रश्नों का—विशेषकर उनके यह कहने पर कि कर्म-भोग रोग है—पसन्द नहीं करते, इसलिए मैंने उत्तर की प्रतीक्षा न करके वार्तालाप की दिशा को बदलकर कहा—"आपकी कुटिया तो आश्रम-सी है।"

रोगी—"हां, आश्रम-सी तो है ही; पर आप यह क्या कहते हैं कि मेरी कुटिया।"

मैं—"क्यों ? आपकी नहीं, तो किसकी है ? आप ही तो इसके मालिक हैं ?"

रोगी—"क्षमा कीजिए। ऐसा समझना भ्रम है । ऊपर देखिये, वह छिपकली दीवार पर बैठी है । यदि वह बोल सकती, तो मुझे विश्वास है, वह इस पर उतना ही अपना अधिकार समझती, जितना कि मैं। छप्पर से लगी बेल में दर्जी (फुटकी) पक्षी का जोड़ा प्रतिवर्ष घोंसला बनाता है, और अपने बच्चों को इसी में पालकर बड़ा करता है । उनके गार्हस्थ्य जीवन के सुख को मैं पड़ा-पड़ा यहीं से देखा करता हूं। उन पक्षियों का खयाल

है कि यह कुटिया उनकी है। सामने की दीवार में प्रतिवर्ष लखैरियों को झींगुर पकड़कर खींचते देखता हूं, उनकी भी यही भावना हो सकती है कि यह कुटिया उनकी है। और भी ऐसे कितने ही प्राणी हैं, जो इस कुटिया पर अपना इतना ही अधिकार समझते हैं। रही मेरे यहां पड़े रहने की बात, सो यह आवागमन तो बना ही रहता है। यह संसार-चक्र ऐसे ही चला करता है, और 'उसकी महफिल का कभी खाली मकां होता नहीं'।"

रोगी महाशय की इस दार्शनिक वृत्ति पर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैं सोचने लगा कि आखिर वह कौन-सा विचित्र रोग है, जिसने उन्हें चारपाई पर कसकर रख छोड़ा है, और बुद्धि के विकास पर तनिक भी आंच नहीं आने दी है। मैंने अब तक जितने भी प्रसंग छेड़े उन सबको रोगी महाशय ने बच्चों की-सी बातें समझा। जिधर भी मैं चलता, उधर ही मुझ पर मात-सा हो जाता। मैं उनसे उनकी बीमारी के बारे में पूछना चाहता था, और उन्हें बताना चाहता था कि वे किसी बढ़िया अस्पताल में जाकर अपना इलाज कराएं। ढंगों से मालूम होता था कि उन्होंने गांव की जड़ी-बूटियों के सहारे रहकर अपना रोग बिगाड़ लिया है; पर कुटिया में रखे अंग्रेजी विश्वकोश तथा अन्य बढ़िया पुस्तकों और साथ ही रोगी की विलक्षण बातों से मुझे अपनी आशंका पर भ्रम भी हो रहा था। फिर रोगी के सचेत मन को कैसे अपनी ओर करता। उठने की इच्छा न होती थी। उधर खाने का अड़ंगा भी उन्होंने लगा दिया था। सच बात तो यह थी कि उस समय मैं भूख से व्याकुल हो रहा था, और तबीयत करती थी कि खेत में से पके टुमाटो तोड़कर खाऊं। मैं कुछ सोच ही रहा था कि रोगी ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—"आप किस स्कूल में पढ़े थे?"

पढ़ाई-लिखाई सम्बन्धी प्रश्न होने पर मैं बड़ा सतर्क हो गया। शिक्षा-सम्बन्धी दार्शनिक और व्यावहारिक बातों पर मुंह की न खाऊंगा, इस खयाल से मैंने सूक्ष्म-सा उत्तर दिया—

"खुर्जा हाई स्कूल में।"

"खुर्जा के किस हाई स्कूल में?" रोगी ने मेरी ओर आंखें गड़ाते हुए कहा।

"जे० ए० एस० हाई स्कूल में।"

"किस सन् में ?"

"सन् 1919 में।"

"अरे यार, यों क्यों नहीं कहते कि तुम हाकी के खिलाड़ी अमुक··· हो।" रोगी ने प्रफुल्ल होकर कहा। अपना नाम सुनकर मैं अवाक् रह गया, और कुरसी को कुछ पीछे हटाकर मैंने विस्मय से पूछा—"क्या आप भी वहीं पढ़ते थे ? आपका नाम ?"

"मेरा नाम जगन्नाथ है।"

मैं—"बस-बस, मैं समझ गया। पं० जगन्नाथ शर्मा, और हेडमास्टर मि० माथुर के शब्दों में 'मार्निंग पोस्ट'। परमात्मा की अद्भुत लीला है, आज हम लोगों का कैसा मिलन हुआ ! मैं तो आपको पहचान भी न सका। आपके कारण तो स्कूल की साहित्य-सभा में जान-सी पड़ गई थी; पर भई जगन्नाथ जी, यह तो बताइये कि आप कब से बीमार हैं, और किसी बढ़िया अस्पताल में दाखिल होकर अपना इलाज क्यों नहीं कराते ? लखनऊ के मेडिकल कॉलेज में मेरे एक रिश्तेदार हैं, वहीं किसी प्रकार चलो। मैं साथ चलकर सब प्रबन्ध करा दूंगा। बढ़िया डॉक्टरों के परामर्श से इलाज होगा।"

जगन्नाथ—"अच्छा, स्नान करो। मेरी कहानी लम्बी है। खाना खाने के बाद बातें होंगी।"

पं० जगन्नाथ ने अपनी हार्दिक व्यथा को कुछ रोकते हुए कहा—"गत चौदह वर्ष से मैं बीमार हूं, और तेरह वर्ष से इसी प्रकार इसी आसन पर पड़ा हूं। पहले के चार-पांच वर्षों में हाथ-पैर कुछ काम करते थे। मैं उन्हें पसार भी लेता था; अब वे भी रूठ गये हैं। बीमारी की क्या कहूं ! पहले-पहल छाती पर कुछ छाले उठे। बस, जले के फफोले-से। सबका खयाल हुआ कि मकड़ी फर गई है, इसलिए घर पर ही साधारण दवा-दारू होती रही। मैं चलता-फिरता था। धीरे-धीरे छाले ऊपर को बढ़े, साल-भर के भीतर वे मुंह पर फैल गये। मुंह पर खुरंट-से पड़ गये। सन् 1920 में तो फफोलों का ऐसा प्रकोप हुआ कि सारे शरीर पर वे फैल गये। हथेली और पैरों के तलुओं तक पर वे निकल पड़े। मैं चारपाई

पर गिर गया।

"आप इलाज की कहते हैं, और डॉक्टरी इलाज की सिफारिश करते हैं ? मैं अपने अनुभव से कहता हूं कि डॉक्टरी इलाज इस गरीब मुल्क के लिए किसी प्रकार भी हितकर नहीं है। लोग विलायती कपड़ों का तो बहिष्कार करते हैं, और इस प्रकार विदेश में जाने वाले करोड़ों रुपयों को बचाना चाहते हैं। परन्तु कपड़ों से तो तन ही ढकता है, ओषधि का प्रभाव तो आत्मा पर भी पड़ता है। ओषधियों के दाम में विदेश जाने वाले करोड़ों रुपयों की रोक के लिए आप क्या करते हैं ? जितने भी डॉक्टर हैं, वे स्वराज्य-प्राप्ति में बाधक हैं। परोक्ष रूप से दूषित पूंजीवाद के समर्थक हैं। देश के सम्पत्ति-रूपी वृक्ष के लिए दीमक···"

मैं (बात काटकर) —"पर आपने उन देश-द्रोहियों से इलाज भी कराया ? आपको मालूम होना चाहिए कि राष्ट्र की आत्मा—हमारे सब कुछ—और संसार को झूठी सभ्यता से मुक्त करने वाले महात्माजी के प्राण-रक्षक डॉक्टर लोग ही थे; आयुर्वेद-विशारद और होमियोपैथ नहीं।"

जगन्नाथ—"अच्छा, आपका खयाल है कि 'अपैंडिसाइटिस' का ऑपरेशन करके महात्माजी की जान ऐलोपैथ डाक्टरों ने बचाई ? खूब ! क्या कभी कोई व्यक्ति अपैंडिसाइटिस का उचित आपरेशन होने पर भी नहीं मरा ? गांव में कभी-कभी भयंकर रोग जादू-टोना के विश्वास से अच्छे हो जाते हैं, तो फिर क्या गांव का जादू-टोना ऐलोपैथी से बढ़कर नहीं हुआ ? सुनिये, एक बार शिवाजी महाराज ने अपने दान-पुण्य की बड़ाई, दबी जुबान से, अपने गुरु समर्थ रामदास से की। समर्थ रामदास को शिवाजी के उस कथन में अहंकार की गन्ध आई। शिवाजी को लेकर वे एक पत्थर के पास गये, और शिवाजी से उस पत्थर को तुड़वाया। पत्थर के भीतर दराज में बैठी एक मेंढ़की निकली। उसकी ओर संकेत करते हुए समर्थ रामदास ने कहा—'क्या इसको भी तू खाना देता है ?' शिवाजी गुरु के चरणों पर गिर गये, और उनका अहंकार नष्ट हो गया।

"अस्तु, मैं तो अपनी बीती सुना रहा हूं। आपबीती से ही मैं इस नतीजे पर आया हूं कि डॉक्टरी इलाज भारतवासियों के लिए शारीरिक और मानसिक दृष्टि से हानिकर है। अंग्रेजी इलाज शीतप्रधान देशों के लिए ठीक हो सकता है। हम लोगों के खून में शराब का प्रभाव बहुत कम

क्या, है ही नहीं। एक कुनैन को ही लो। जेठ-आषाढ़ में कुनैन खाओ, फिर देखो, कैसे उल्लू बनते हो। छोटे बच्चों को कुनैन खिलाना उन पर अत्याचार करना है। मेरे एक भाई हैं, जो बचपन में बड़े ही नटखट थे। कुनैन की शीशी कुत्ते के मुंह में उड़ेल देते थे, फिर कुत्ते का लपर-लपर करके झाग डालना देखकर हंसा करते थे। हां, आप इंजेक्शनों की प्रशंसा करें, तो उसके लिए मैं कहूंगा कि इंजेक्शनों ने ही मेरी यह दशा कर रखी है। आगरा के अस्पताल में मैं रहा, बड़े-बड़े योग्य डाक्टरों ने मुझे देखा, और कई बार खून की परीक्षा भी हुई। पहले तो हम लोगों के पास रुपया है ही नहीं; पर जोड़-तोड़ करके जर्मनी से इंजेक्शन के टयूब मंगा-मंगाकर मेरे इंजेक्शन लगाये गये। मेरी टांगों और बांहों की सब नसें फोड़ डाली गईं। सौ के लगभग इंजेक्शन लगे; पर कुछ न हुआ, और रोग असाध्य कहकर उन्होंने मुझे छोड़ दिया। मेरे हाथ-पैर जो बेकार हो गये हैं, उसका मुख्य कारण है—इंजेक्शन द्वारा दी गई विषैली ओषधियों की प्रतिक्रिया।

"मैंने यूनानी इलाज भी कराया, और कराया हकीम अजमल खां से। कुछ लाभ भी हुआ; पर बाद में बीमारी का प्रकोप होने से उनकी दवा कुछ न कर पायी। आयुर्वेदिक चिकित्सा भी हुई। सबसे पहले होनी चाहिए थी होमियोपैथी—वह हुई सबसे आखिर में! चिकित्सा अब भी होती है, बस जी बहलाने को; पर जिसने रोग दिया है, वही भले ही अच्छा कर दे। दैवी शक्ति का कोई अपमान नहीं कर सकता। यों तो प्रत्येक रोग की दवा है, और अचूक दवा है; पर मौत की दवा नहीं है, और न होनी चाहिए।

"आप पूछते हैं कि अब क्या हालत है? सो क्या बताऊं। शरीर का कोई भाग—आंखों की पलकें तक—ऐसा नहीं, जहां फफोले न हों। जुआर के बराबर फुन्सी उठती है, और रातभर में वही बढ़कर फफोला बन जाती है। एक ओर से फफोले अच्छे होते हैं, और दूसरी ओर उठते आते हैं। सारे शरीर पर खुरण्टों की मोटी तह जमती जाती है, और खुरण्टों के नीचे का पीब खून को सुखाता जाता है। जब सब प्रयत्न निष्फल रहे, तब मेरा दृढ़ विश्वास है कि मेरा रोग कर्म-भोग रोग है, और पहले जन्म के पापों का प्रायश्चित है। इस जन्म में मैंने ऐसा कोई पाप नहीं किया, जिसका इतना विकट प्रायश्चित हो। मेरा यह भी खयाल है

कि मेरे पूर्वजन्म के पापों में मेरे कुटुम्बी—विशेषकर माता और भाई—भी शामिल हैं। सम्भवतः मैंने किसी निर्दोष का वध किया हो, और मेरे कुटुम्बियों ने उसमें किसी प्रकार योग दिया हो, इसीलिए शायद सेवा-सुश्रूषा के रूप में वे भी अपना प्रायश्चित कर रहे हैं, नहीं तो मेरी समझ में नहीं आता कि मेरी बीमारी का क्या रहस्य है !"

मैं—"आप अविवाहित हैं न ?"

जगन्नाथ—"हां, किसी स्त्री से मेरा विवाह नहीं हुआ।"

मैं (मुसकराकर)—"इसके क्या मानी ?"

जगन्नाथ—"इसके मानी यह कि मेरा विवाह तो हुआ है—स्त्री से नहीं, वरन् बीमारी से। सो मेरी यह पतिपरायणा बीमारी संग सती होगी।"

मैं—"आपकी देखभाल और सेवा कौन करता है ?"

जगन्नाथ—"मेरे ऊपर सभी कृपा करते हैं। आपसे ही पानी मांगूं, तो क्या आप मुझे पानी न देंगे ? भाई हैं, छोटे भतीजे हैं, भतीजियां हैं। अपने मां-बाप की अपेक्षा वे मुझे अधिक प्यार करते हैं।

मैं—"तो फिर आप किसी पर क्रोध तो नहीं करते होंगे, और वर्षों के ऐसे अभ्यास से आपसे क्रोध का अंश तो नष्ट ही हो गया होगा ?"

इस प्रश्न ने रोगी के मर्मस्थान पर चोट कर दी। उनकी आंखें छलछला आयीं, और आंखों में से दो मोती—उनके सूखे और खुरण्ट-युक्त कपोलों पर ढलक गये। मैं सकपका-सा गया। घबराकर मैंने पूछा—"क्यों, मुझसे ऐसी कौन-सी धृष्टता हो गई, जो आपको इतनी वेदना हुई ?"

जगन्नाथ (आंसुओं को रोकते हुए)—"आपसे कोई धृष्टता होती भी, तो मैं उसका खयाल नहीं करता। मेरा जीवन दूसरों पर आश्रित है, इसलिए मुझे तो सभी को प्रसन्न रखना पड़ता है। आपके प्रश्न से मुझे मां का स्मरण हो आया। उनके देहावसान को अभी पांच ही वर्ष बीते हैं। मैं भी क्रोध किया करता था, नाराज हुआ करता था और रूठ भी जाया करता था। किस पर ?—मां पर। सुबह-शाम पाखाना-पेशाब वही कराती थीं। वे बड़ी तपस्विनी थीं। अपने अध्यवसाय और घोर परिश्रम से उन्होंने हमें पाला था। प्रतिदिन प्रातःकाल तीन बजे उठतीं।।

वृद्धा हो गई थीं, परन्तु हम तीनों भाइयों में से कोई भी उन्हें सुख न दे पाया। घर का भी काम करतीं, और मेरी भी परिचर्या करतीं। कभी उनके आने में देर हो जाती, तो मैं उनसे बिगड़ पड़ता, और जब खाना लातीं, तब मैं रूठ जाता। वे मेरी इसी चारपाई की पाटी पकड़कर बैठ जातीं, और मनाकर और पुचकारकर कहतीं—'ले बेटा, रोटी खा ले। मुनुआं, रूठते नहीं है। खा ले। मेरे मरने के बाद तुझे कोई नहीं मनायेगा। मांगेगा तो खाना मिल जायेगा, नहीं तो मनानेवाला मेरे बाद कोई नहीं बैठा।' जब कभी मुझे कोई कष्ट होता है, और समय पर मेरा काम नहीं होता—न जाने क्यों मेरी प्रत्येक बात का समय बंध गया है, और एक मिनट की देरी में कष्ट होने लगता है—तब मैं घबराकर चुपचाप रोने लगता हूं, और मां की याद में हिलकी बंध जाती है। तब ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर्गीया मां ऊपर आकाश से मुझे पुचकारकर सान्त्वना दे रही हैं। उस समय मुझे मां के ये शब्द 'मेरे बाद मनानेवाला कोई नहीं बैठा' स्मरण हो आते हैं, और मां की और भी याद आती है। आपके प्रश्न से मां की याद आ गई जिससे मेरा हृदय भर आया। रोकने की बहुत कोशिश की; पर बांध टूट ही तो गया।"

मैं—"तो क्या आपकी सेवा अब ठीक नहीं होती?"

जगन्नाथ—"होती है; पर मुझे भाइयों, भावजों और नौकरों पर अब उतना अधिकार नहीं। अब ऐसा कोई नहीं, जिससे मैं रूठ सकूं। मुझे अब इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि मेरी किसी बात से कोई नाराज न हो जाय। पहले मुझमें बालकों की-सी सरलता थी, और अब बूढ़ों की-सी समझ और चतुराई है। हां, बच्चों पर शासन करता हूं। वे अपनी सब शिकायत मुझसे ही करते हैं, 'चाचा, हमें यह चाहिए। भैया मुझे मारता है। चाचा, तुम पड़े क्यों रहते हो?' बच्चों की ऐसी बातों से मुझे आन्तरिक सुख मिलता है। मेरी भी अब यह दशा हो गई है कि जब बच्चे यहां खेलते-कूदते रहते हैं, तब मुझे अच्छा लगता है। उनकी बाल-लीला का आनन्द मैं पड़े-पड़े लिया करता हूं। एक बच्चे को, जिसका प्यार का नाम पल्लू है, मैंने समझाया कि पल्लू, सवारी गाड़ी जब यहां होकर निकलती है, तब वह तुझे बुलाती है, और कहती है—'पल्लू

तुम आइ जाउ; पल्लू, तुम आइ जाउ।' पल्लू ढाई वर्ष का होगा, और उसने पूछा—'चाचा, मोइ टेत्ति ऐ ?' मैंने कहा—'हां, तुझे ही टेरती है और किसी को नहीं, और तू कह दिया कर—'आजु तू चली जा, कल्लि हूं आंग्गो।' बस, अब जब कभी कोई सवारी गाड़ी निकलती है, तो पल्लू बोल उठता है—'आजु तू चली जा, कल्लि हूं आंग्गो।' यदि कोई और बच्चा कह देता कि 'कल्लि हूं आंग्गो' तो पल्लू रो पड़ता है, और कहता है—'बु तौ मोइ टेत्ति ऐ।' मुझे भी और बच्चों से कहना पड़ता कि रेल केवल पल्लू को बुलाती है। तब सब बच्चे—गांव के और बच्चे भी—हर एक सवारी गाड़ी को देखकर बोल उठते हैं—'आजु तू चली जा, कल्लि पल्लू आवैगौ।'

"एक दिन बड़ी मजेदार बात हुई। पल्लू साहब मचलकर रो रहे थे कि इतने में सवारी गाड़ी आ गई। फिर क्या था। अश्रु-बूंद बिन्नियों पर मोतियों की भांति गुह कर रह गईं, और पल्लू साहब लगे कहने —'आजु तू चली जा, कल्लि हूं आंग्गो।' मैंने उस बाल-लीला में नन्द-यशोदा का-सा सुख लूटा है।"

इन बातों के दौरान में एक आदमी कुटिया के सहारे आ खड़ा हुआ। जगन्नाथ ने उसकी ओर देखकर कहा—"कौन, मोहना? मसहरी पर रुपये रखे हैं, उठा ले। इस महीने तक का तेरा हिसाब बेबाक हो गया।"

मोहना अपना मासिक वेतन लेकर चला गया, तब मैंने पूछा—"क्या नौकरों का वेतन आप ही देते हैं?"

जगन्नाथ—"क्या बताऊं, मां के स्वर्गवास के बाद घर का सारा प्रबन्ध मेरे ही ऊपर है—'होम डिपार्टमेण्ट' का इन्चार्ज मैं ही हूं। कोई भी नौकर अपना वेतन और किसी से नहीं मांगता, सब मुझ से ही मांगते हैं। गांव के आदमी यदि किसी चीज को मांगते हैं, तो मुझ से ही। घर के जो चलन चलते हैं, वे सब मेरे परामर्श से। और की कौन कहे, मेरे भाई तक कोई चीज मांगते हैं, तो मुझ से। हमारे यहां एक बार एक अंग्रेज सज्जन आकर ठहरे, तो कमोड का प्रबन्ध मुझे ही करना पड़ा।"

मैं (आश्चर्य से)—"आपने कैसे किया? क्या आपकी जान-पहचान आपके भाइयों की अपेक्षा अधिक है?"

जगन्नाथ—"हां, इस इलाके में मेरा रसूख बहुत है। बस, मैंने स्टेशन पर खबर कर दी, और वहां से ठेले पर कमोड आ गया।"

मैं—"तब तो आपका समय किसी-न-किसी तरह कट ही जाता है।"

जगन्नाथ—"समय कटता नहीं है, वरन् वह हमें ही काटता है। आपकी दृष्टि से विचार करने पर भी यही कहना पड़ता है—

'ऐ शमअ तेरी उम्र तवई है एक रात,
हंस कर गुजार या इसे रोकर गुजार दे।'

फिर खास बात यह है कि बहुतेरे मुझसे भी खराव हालत में हैं। उन्हें वे सुख प्राप्त नहीं, जो मुझे हैं। आप शिकार खेलते हैं, और घूमते हैं ; पर इससे आप यह न समझें कि श्रवण और घ्राणशक्ति आपकी ही प्रवल हैं। चलने-फिरने की मेरी शक्ति क्षीण हो गई है। मैं इस योग्य भी नहीं कि रेल या मोटर में रखकर कहीं ले जाया जाऊं, इसलिए मेरे कान, मेरी नाक और स्मरणशक्ति पर कुछ धार-सी धर दी गई है। पैरों की आहट से मैं पहचान लेता हूं कि कौन-सा परिचित व्यक्ति है। वकरी और वैल के खुरों की आहट से मैं उन्हें पहचान लेता हूं।

"आप खयाल करते होंगे कि घ्राणशक्ति किस प्रकार तीव्र हो सकती है। सुनिये, जब आमों पर बौर आता है, तब किसी के बिना बताये ही मुझे मालूम हो जाता है कि आमों पर बौर आ गया। पवन के मन्द-मन्द झोंके जब चलते हैं, तब बौर की मोहक गन्ध वायु के झकोरों से मेरे पास तक आ जाती है। पपीतों से आगे नारंगियों के पेड़ देखिये। उन पर जब कलियां आती हैं, तब मैं यहां पड़े-पड़े मालूम कर लेता हूं कि नारंगियों के पौधों पर फूल आ रहे हैं।"

मैं—"आपको किसी विशेष वस्तु की आवश्यकता है?"

जगन्नाथ—"बस, कुछ नहीं चाहिए। परमात्मा को धन्यवाद देता हूं कि बीमारी की नरक-यातना में उसने मुझे ऐसे साधन दे रखे हैं। बस, मैं तो यही चाहता हूं कि मेरी सेवा करनेवाले फूलें-फलें, और सबके सामने ही मैं मां से जा मिलूं। ये बातें मैं दुःख से नहीं कह रहा, परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि चौदह वर्ष की तपस्या बहुत होती है। राम को भी चौदह वर्ष का वनवास हुआ था। तबीयत से चाहता यह हूं कि या तो अब अनन्त

नींद में सो जाऊं, या फिर चल-फिरकर बीमारों और दुखियों की सेवा कर सकूं। मैं इस बात को खूब महसूस करता हूं कि रोगी और दुखी से मीठे और सहानुभूति-पगे शब्द बोलने से ही उसे काफी सान्त्वना मिलती है। वह जानता है कि उसके दुखों को समझने वाले लोग हैं !"

मैं—"आप से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई, और आपकी कुटिया ने तो मुझे मोह लिया है। बताइये, इसकी बनवाई में क्या खर्च पड़ा ? मेरे यहां भी खेती होती है।"

जगन्नाथ—"आप किसान हैं, या जमींदार ?"

मैं—"सोलहों आना काश्तकार।"

जगन्नाथ—"तब फिर आपको ऐसी कुटिया बड़ी महंगी पड़ सकती है।"

मैं—"क्यों ?"

जगन्नाथ—"इसलिए कि कानूनन कोई भी काश्तकार खेत पर मकान नहीं बना सकता। खेती-बारी के लाभ के लिए झोंपड़ा या मकान बनाया जा सकता है। आप देखते हैं, यह कुटिया भी झोंपड़ा है। छत के स्थान में छप्पर पड़ा है। हमारे बैल भी यहीं बंधते हैं, और खेती के औजार भी यहीं रखे जाते हैं। चारा भी यहीं कटता है। पर जमींदार साहब ने बेदखली लगा दी कि हम लोगों ने रहने के लिए मकान बनाया है। वर्षों मुकदमा चला। मैजिस्ट्रेट के यहां से हम हार गये। जमींदार ने अदालत के जोर से खेत पर अधिकार कर लिया, और मेरे लिए कह दिया कि हम नहीं जानते, इस रोगी को कहीं फेंक दो। मुझे उस समय मालूम हुआ कि मेरे साथ पक्षी दया कर सकते हैं, वायु अपने झकोरों से बौर की सूचना दे सकती है, पर जमींदार मुझ-जैसे रोगी को एक झोंपड़े में नहीं रहने दे सकता ! बताइये, मैं कहां जाता ? घर पर कहीं ठौर न था। यदि मैं वहां ले जाया भी जाता, तो अगले ही दिन मेरी लाश निकलती, इसलिए मैंने कह दिया कि मैं अपनी तबीयत से कहीं न जाऊंगा, और न मेरे घरवाले ही हर्गिज मुझे कहीं उठाएं। जमींदार और जमींदार के आदमी उठाकर मुझे कहीं रख दें। किसी का साहस मेरी चारपाई छूने का न हुआ।

"अपील की गई। वर्षों की मुकदमेबाजी और हजारों के खर्च के बाद

हम जीते। अब आप इस कुटिया का मूल्य कूतिये।"

मैं—"आपके जमींदार बड़े ही मूढ़ और दुष्ट प्रतीत होते हैं।"

जगन्नाथ—"मूढ़ता और दुष्टता की परिभाषा तो आप जानें; पर उनका कुल तो बड़ा शिक्षित है। कोई वकील है, तो कोई डॉक्टर और कोई कॉलेज का प्रोफेसर।"

मैं—"ऐं? आप क्या कहते हैं? विश्वास नहीं होता।"

जगन्नाथ—"न कीजिए विश्वास। जनाब, यहीं तक हद नहीं है। जमींदार ने हम पर चोरी तक का मुकदमा लगाया—खेत काटने की चोरी का! मुकदमे के दौरान ताने मारे कि एक भाई तो मुर्दा पड़ा है, दूसरे को सजा कराकर छोड़ेंगे और तीसरे को पैरवी कराते-कराते रगड़ देंगे। इस प्रकार सरकश काश्तकारों का अन्त करके हुकूमत करेंगे; पर अन्तरिक्ष से विधाता उनके मद पर हंस रहा था, क्योंकि हम जीते। खेत हमें मिल गया।"

मैं—"तो फिर आप जमींदार और जमींदारी को कैसा समझते हैं?"

जगन्नाथ—"जमींदारी का पेशा बहुत बुरा है, और देश का भला तब तक न होगा, जब तक जमींदारी मिटा या उठा न दी जायेगी। जमींदार लोग निखट्टू हो गये हैं, और समझते हैं अपने-आपको जमीन का मालिक!"

मैं—"तो क्या आप जमींदारों को जमीन का मालिक नहीं समझते?"

जगन्नाथ—"भाई साहब, मैं जमींदारों को जमीन का मालिक हर्गिज नहीं मानता, और वह समय दूर नहीं, जब जमीन के जमींदार वे ही माने जायेंगे, जो खेत जोतते हैं, जो खून-पसीना एक करके खेतों से आत्मीयता पैदा कर लेते हैं। और ये बीच के एजेंट—जमींदार—बस, लगान वसूल करके ही अपना आधिपत्य जमाते हैं। यह सब धांधली है। कमाते हैं किसान, और गुलछर्रे उड़ाते हैं—सो भी विदेशों में मोटरों और हवाई-जहाजों में—जमींदार! सुनिये, यदि किसानों को खेत का किरायेदार ही समझा जाय और जमींदार को खेत का मालिक, तो जमींदार को खेत की उन्नति, सिंचाई और अन्य कामों के लिए खर्च करना चाहिए। किसी मकान में लोग किराये पर रहते हैं, तो मकान की मरम्मत और सफाई किराये-

दार के जिम्मे नहीं होती, वरन् मालिक-मकान के जिम्मे। अब आप बताइये कि जमींदार खेत के लिए क्या करते हैं ?

"यही नहीं, बेगार और अत्याचार तो साधारण-सी बात है। यदि किसान जमींदार या जमींदार के पक्ष को वोट नहीं देता, तो वह सरकश करार दिया जाता है, बेदखली तक की नौबत आती है और बेचारा सैकड़ों ढंग से दिक किया जाता है, इसलिए यदि आप देश में वास्तविक स्वराज्य चाहते हैं, तो इस जमींदार-प्रणाली का अन्त कीजिए। खेतों की उपज, पशुओं की नस्ल और साग-भाजी की पैदावार की ओर जमींदारों का तनिक भी ध्यान नहीं है। उनकी कमाई का स्रोत है खेती, और उसकी उन्नति वे करते हैं विलासिता और अत्याचार से ! यह परिस्थिति भयंकर है।

"एक बात और। जो धरती का मालिक बनकर रहता है, वह नष्ट होता है, और उसे नष्ट होना भी चाहिए। धरती माता है। अपनी सेवा करने से वह प्रसन्न होगी। किसान उसे माता समझते हैं, और जमींदार उसे रखैल स्त्री। बताइये, किसका सम्बन्ध अधिक पवित्र है ?"

मैं—"आपके हृदय में जमींदारों के प्रति बड़ी कटुता है।"

जगन्नाथ—"मैंने सिद्धान्त की बात कही है। एक हिस्सेदार जमींदार को छोड़कर शेष सब अपने जमींदारों से हमारी अब मित्रता है। वे हमारे यहां मित्र की भांति ठहरते हैं; पर सिद्धान्त की बात तो साफ कहनी चाहिए। हां, जो जमींदार अपना समय खेती और किसानों की भलाई में लगाते हैं, उनकी ओर से किसी को शिकायत नहीं हो सकती। पर जनाब, जब विद्रोह और असन्तोष की प्रचण्ड ज्वाला फूट निकलती है, तब सूखी लकड़ियों के साथ गीली भी जल जाती हैं। फोड़े में जब चीरा लगता है, तब पीब के साथ अच्छा मांस भी कट जाता है, इसलिए जब जमींदारी-प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन उठेगा, तब भले जमींदारों पर भी चपेट होगी।"

मैं—"क्या ही अच्छा हो, आप निरोग होकर अपने विचारों का प्रचार करें ?"

जगन्नाथ—"क्या आपके आशीर्वाद में स्वार्थ की भावना नहीं है ? परमात्मा को मंजूर होगा, तो सब कुछ होगा, पर मेरा विचार तो लोगों की सेवा करना है। कदाचित् इस जन्म में वह सेवा बदी नहीं, सो अगले

जन्म में देखा जायेगा।"

मैं—"क्या आप गांव में रहकर सेवा करना चाहते हैं ?"

जगन्नाथ—"अरे भई, मैं क्या सेवा करूंगा ! इस समय तो मैं सेवा करा रहा हूं; पर मेरा विचार है कि स्वातन्त्र्य-युद्ध की लड़ाई के लिए गांवों में मोरचे डालने चाहिए। पढ़-लिखकर जो लोग कमाई या नौकरी के लालच से शहरों में जा बसते हैं, गांव के लिए वे मृतक के समान हैं। किसानों के हित की गाथा गानेवाले जो लोग शहर में रहते हैं, वे सब बहुत अंशों में ढकोसलेबाज हैं। गांव में रहकर मालूम होता है कि पुलिस का जुल्म किसे कहते हैं। पढ़-पढ़कर लोग गांव छोड़ते चले जाते हैं, और देश की शक्ति घटा रहे हैं। गांवों को ऐसा बनाना चाहिए कि वे रहने योग्य हो जायं।"

मैं—"आप तो प्रत्येक विषय पर काफी जानकारी रखते हैं।"

जगन्नाथ—"इसमें जानकारी की क्या बात है ? साधारण-सी बातें हैं। इन पर तो मैं घंटों बातें कर सकता हूं।"

काफी देर हो गई थी। चलने को तबीयत तो न करती थी; पर स्थान पर पहुंचना था, इसलिए रोगी पं० जगन्नाथजी से मैंने विदा ली।

चलते समय उनका दिल भर आया, और कहने लगे—"भाई साहब, कोई आ जाता है, तो मन लग जाता है। इस कुटिया पर बहुत से भले व्यक्ति आते रहते हैं, और उनकी बातें मैं भी सुना करता हूं। मेरी जिन्दगी के वे क्षण बड़े ही पुनीत थे, जब स्वर्गीय गणेशजी यहां आकर किसानों की भांति बात करते थे।"

मैंने पूछा—"गणेशशंकर विद्यार्थी ?"

जगन्नाथ ने कहा—"हां।"

उस समय मुझे स्वर्गीय विद्यार्थी जी के असली महत्त्व का पता लगा। जो दीन-से-दीन और दुःखी-से-दुःखी प्राणी को कुछ सान्त्वना दे सके, उसके दुःख-समूह में से कुछ हिस्सा बंटा सके, कुछ कमी कर सके, वही दरअसल महापुरुष है।

पड़ाव पर लौटते समय रास्ते-भर मैं यह सोचता आया कि यदि कर्म-सिद्धान्त ठीक है, तो जगन्नाथजी का दूसरा जन्म न होगा। पहले जन्म के पापों को वे भोग रहे हैं, और उनके क्षय होते ही वे ब्रह्म में लीन हो जायेंगे।

जगन्नाथजी अब भी अपनी कुटिया में उसी आसन पर पड़े रहते हैं। उनकी बातें और उनके कष्ट पुनर्जन्म और ईश्वर की हस्ती सिद्ध करते हैं।[1]

---

1. इस लेख में वर्णित जगन्नाथजी कोई कल्पित व्यक्ति नहीं, वरन् एक जीवित प्राणी हैं। उनके दुःखों की कथा सर्वथा सत्य है। हमने स्वयं उन्हें अपनी आंखों से देखा है। उनकी स्मरणशक्ति और प्रबन्धशक्ति को देखकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। गत चौदह वर्ष उन्होंने जिस प्रकार बिताये हैं, उसे घोर तप कहने में कोई अत्युक्ति नहीं। दुःख और कष्ट के निम्नतम धरातल पर पहुंचकर भी जगन्नाथ के मनुष्यत्व में अद्भुत सजीवता है।

—**बनारसीदास चतुर्वेदी, 'विशाल भारत' सम्पादक**

ठाकुर की आन

"ओ रे नैनसुखा ! जाकर ठाकुर बलवन्तसिंह से कह दे कि लगान आज शाम तक अदा हो जाय, नहीं तो उनके हक में अच्छा न होगा !" जमींदार लाला भगवानदीन ने अपने नौकर से कहा ।

नौकर ने ठाकुर बलवन्तसिंह से कड़ा तकाजा किया और उनको सचेत कर दिया कि लालाजी कोई हीला-हवाला न सुनेंगे । किसी प्रकार आज रुपयों का प्रबन्ध कर लेना। गहना-वहना गिरवी रखकर इस विपत्ति को टालना । आज के दिन अदायगी न होगी तो तुम्हारी आबरू मिट्टी में मिल जायेगी । जानते नहीं हो ठाकुर बदनसिंह को उस दिन क्या-क्या सुनना पड़ा । भगवानदीन लाला हैं तो जात के बनिये; पर स्वभाव के ठाकुर ही हैं । बनियों में जमींदारी इन्हीं की चमकी है । ठाकुरों के सींग इन्होंने ही उखाड़े हैं । ब्राह्मण तक इनकी जूतियों पर बैठते हैं···

बलवंतसिंह—"नैनसुख, इन बातों में क्या रखा है ? मक्खी तो घाव पर ही बैठती है । मैंने कभी कहने-सुनने का मौका ही नहीं दिया । आज पंद्रह वर्ष से मैंने लालाजी की एक बात भी नहीं सुनी । ठीक समय पर पाई-पाई तक का भुगतान कर दिया है । इस वर्ष एक दिन की देर हो गई तो क्या करूं, हवा ही नहीं चली । गेहूं बेचकर मैं तो कभी का लगान चुका देता । खलिहान में सिली रखी है । बरसा ही न सका । आज हवा अनुकूल है । शाम तक रास हो जायेगी और कल शाम तक मैं रुपये लालाजी को दे आऊंगा । पाताल से चाहे रुपये लाने पड़ें; पर कल जरूर रुपयों का प्रबन्ध

कर लूंगा। लालाजी से कह देना कि दिन छिपे रुपये उनके पास तक पहुंच जायेंगे।"

नैनसुखा—"ठाकुर, कहने को तो मैं कह दूंगा; पर मैं लालाजी का स्वभाव जानता हूं। पूरे कुटकी हैं। अफसरों से दोस्ती है। लाखों रुपये पास हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि आजकल उनकी धाक है। उनकी जूती में जोर है। जिस पर वार करते हैं उसे तहस-नहस करके ही छोड़ते हैं। इस गांव में तुम्हारी आबरू-इज्जत है, और आज तक तुम्हारी हेठी नहीं हुई, इसलिए, मैं यही कहता हूं कि लगान का प्रबन्ध कर लेना।"

बलवन्तसिंह (गंभीरता से)—"भई, मेरे यहां टकसाल तो है नहीं। कल तक मैं रुपयों का प्रबन्ध कर लूंगा। एक दिन की मोहलत तो अदालत से भी मिल जाती है। तू जाकर उनसे कह देना। मेरा खयाल वे जरूर करेंगे।"

नैनसुखा से बातें करके ठाकुर बलवन्तसिंह अपने काम में लग गए। इतना कड़ा तकाजा उन्होंने कभी न सुना था। बारिश आते देखकर जो पहले ही से भीगने के डर से छप्पर में बैठ जाता है, उसे छींटों का क्या डर। जो अदायगी के समय से पहले ही लगान दे, उसे जमींदार की सख्त सुस्त सुनने की क्या आशंका! 'न ऊधौ का लेन और न माधौ का देन' की बात के बलवन्तसिंह सजीव मूर्ति थे। संसार में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो झगड़ा मोल नहीं लिया करते, वरन् उसे वे तरह देते हैं। रास्ती की सीधी सड़क पर चलते हैं; पर उस रास्ती की सड़क पर, उनके नपे-तुले आदर्श की कोर को, कोई उद्दण्डता से दबाता चला जाय और उनके खून को उबालता ही रहे तो वे फिर आगा-पीछा नहीं सोचते और मर-मिटने पर उतारू हो जाते हैं। घायल शेर की भांति हमला करते हैं।

ठाकुर बलवन्तसिंह भी ऐसे ही भले, सीधे और स्वाभिमानी आदमी थे। किसी से कुछ लेना उन्होंने सीखा ही न था। देहात के लोग उन्हीं से उपकृत होते थे। किसी को बिच्छू ने काटा तो भागे गए ठाकुर बलवन्तसिंह के पास। किसानों के झगड़े की कोई बात हुई तो फैसला गया बलवन्तसिंह के पास। देहात की सभी भली बातों में उनका हाथ था।

उस दिन जमींदार का कड़ा तकाजा सुनकर वे बड़े दुखी हुए। उनके

बाप-दादाओं ने भी जमींदारी की थी। जमींदारी ही क्यों, उनकी रगों में उन महापुरुषों का खून था जो भारतवर्ष के कभी सम्राट थे। उनके बाप-दादाओं ने क्या कभी किसी भले आदमी से—उस आदमी से जो हमेशा समय से पूर्व लगान देता आया हो—कभी ऐसा तकाजा किया होगा—इन विचारों में डूबे वे अपना काम करते रहे। उस दिन उन्होंने स्नान भी नहीं किया। घर से खबर आयी कि रोटी तैयार है; पर बलवन्तसिंह खलिहान से हिले नहीं। रास को बरसाने में लगे ही रहे। वे उस बटोही की भांति लगे रहे जो दिन छिपता जान अपने पड़ाव की ओर ताबड़-तोड़ चला जाता है। बटोही जानता है कि दिन में वह पड़ाव पर नहीं पहुंच सकता; पर फिर भी वह इस कोशिश में रहता है कि कुछ पहले ही पहुंच जाय। रास करके और नाज किसी को तुला कर वे रुपये एकत्र करने की चिन्ता में थे। उनकी वृद्धा माता भी आयीं और कहा—"बेटा, एक कौर रोटी खा ले। और नहीं तो मठा ही पी ले। आध घंटे की देरी में कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। न सही आज रुपया। न देने से कोई कुर्की थोड़े ही हो जायेगी। भगवानदीन कल का लड़का है। आज जमींदार है तो क्या। लगान न हुआ, प्राण देना हो गया। चल, उठ, कुछ खा ले।"

"ना, अम्मा। रोटी न खाऊंगा। किसी प्रकार आज रास हो जाय तो रुपये का बन्दोबस्त हो सकेगा। जमींदारों के दिमाग बिगड़ गये हैं। कहीं कुछ कह बैठा तो बात तीन कौड़ी की हो जायेगी। ब्राह्मण को तो पैर छू-कर राजी कर लो। बिरादरी के आदमी को किसी और तरह मना लो। कुछ सुन भी लो तो कोई बात नहीं; पर अपने से छोटे बिरादरीवाले की बात कैसे कोई सुने और भगवानदीन के पैर आजकल जमीन पर नहीं पड़ते। सो अम्मा, तू जा। मुझे काम करने दे।" बलवन्तसिंह ने अविरल भाव से कहा। वृद्धा की एक न चली और बलवन्तसिंह काम पर जुटे रहे।

सूर्य की प्रचण्ड किरणें बलवन्तसिंह के शरीर पर तप कर क्षीण होने लगीं। पक्षियों और पशुओं को उन्होंने बेहाल कर दिया। भागकर उन्होंने वृक्षों की शरण ली ; पर बलवन्तसिंह को वे तनिक भी विचलित न कर सकीं। शरीर का रस पसीने के रूप में निकलता था। रोम-रोम उसका

हाहाकार मचा रहा था; पर उस शरीर-रूपी किले की स्वामिनी—उसकी आत्मा—अटल थी। जब जनरल ही डटा रहे तब सैनिक लोग कैसे भागें!

सूर्य छिपा और बलवन्तसिंह की रास भी तैयार हुई। तराजू और बाट लाये गए। गोधन, दूब और आक के फूलों से रास को पूजा गया। रास तुल रही थी और चतुर्थी का चांद आकाश में बिना मल्लाह की नाव के समान डगमगा रहा था। रास का तोलना प्रारम्भ ही होने वाला था और बलवन्तसिंह के क्लान्त बदन पर सफलता और आनन्द के चिह्न अंकित हो रहे थे। पल्ली डालकर वे बैठे ही थे और तोलने वाले ने 'रामा है राम' कहना आरम्भ ही किया था कि लाला भगवानदीन के चार नौकर लाठी बांधे खलिहान में आ गये। उनमें से एक बोला—"सरकार ने हुक्म दिया है कि ठाकुर को बुला लाओ।"

बल०—"जाकर कह दो कि रास हो गई है। लालाजी चाहें तो इस अन्न को उनके यहां पहुंचा दूं और कल रुपया देकर उठा लूंगा।"

नौकर—"हमें तो यह हुक्म मिला है कि जाकर फौरन बुला लाओ और न आए तो पकड़ लाओ।"

बल० (आंखें लाल करते हुए)—"पकड़ने को क्या मैंने चोरी की है या लाला भगवानदीन दरोगा हैं जो शक में ही किसी को पकड़वाते हैं। उन्हें उगाही लेनी है या मेरी जान!"

नौकर—"सो सरकार जानें। आखिर मालिक हैं। जान भी ले सकते हैं। हो तो तुम रियाया ही।"

बल०—"मालिक होंगे उसके जिससे उनकी सात भांवरें पड़ी हों। उनके खेत हैं सो लगान देता हूं। देर हो गई हो तो जाएं अदालत में। बीस बार कह दिया कल रुपया दे दूंगा। न मानें तो उनके घर भैंस बांध आऊं। नाज डाल आऊं। जाकर कह दो। (तोलनेवाले से) हां, तोलो।"

नौकर—"अरे ठाकुर, कैसी बातें करते हो। मालूम नहीं है लालाजी के पेशाब में दिया जलता है। जरा संभलकर बातें करो। किस होश में हो?"

बल० (बिगड़कर)—"अभी कुछ और देखोगे। जाकर कह दो जो कुछ मैंने कहा है।"

तोलनेवाले ने झगड़ा बढ़ता देख उभय पक्ष में शांति स्थापित की और

समझा-बुझाकर बलवन्तसिंह को जमींदार के पास भेजने को राजी किया। कभी-कभी संसार में अहित अपने प्रियजनों से भी होता है। हित के लिए हितैषी जन कभी-कभी ऐसी राय देते हैं—राय ही नहीं, कार्य करने को मजबूर कर देते हैं—कि हमको घोर विपत्ति का सामना करना पड़ता है। माता-पिता कभी-कभी अपने बच्चों को ऐसे विभाग में भेजते हैं जिनके लिए वे सर्वदा अयोग्य होते हैं और अपना जीवन नष्ट कर डालते हैं। सभी ने मिलकर बलवन्तसिंह को ठेलकर लाला भगवानदीन के यहां भेज दिया। खयाल था कि न जाने से न मालूम कौन-सी विपत्ति आ जाय। जाने से हुक्म-उदूली तो न होगी। रही अदायगी की बात, सो एक दिन की बात का मानना कोई बड़ी बात न थी, पर लोगों को क्या मालूम था कि विधाता को कुछ और ही मंजूर था।

बलवन्तसिंह गये; पर उस आदमी की भांति जो अपनी मान-मर्यादा को तिलांजलि देकर, दबाये और धमकाये जाने पर माफी मांगने को तैयार हो जाता है। उस समय उसकी मानवी कमजोरियां कहती हैं—"किसी प्रकार पिंड छूटा। जीता रहेगा तो इसका प्रतिकार कर सकेगा।" और उस क्षीण हृदय-सागर की हिलोर से ऊपर अन्तरात्मा पुकारती है—"मूर्ख! संसार में मान और मर्यादा ही सब कुछ है। मरने के बाद कोई नहीं पूछेगा कि तू कौन है। केवल बात और नाम रह जायेंगे।" इस द्वन्द्व में पड़ा व्यक्ति जाग्रत और सुषुप्तावस्था में होता है। जागते हुए सोता-सा रहता है। बलवन्तसिंह चले जा रहे थे। उनकी टांगें मशीन की भांति उधर जा रही थीं। पैरों के स्थान में उनका मन होता तो वे कभी न जाते। मजबूरन जाना पड़ा। गये।

गांव की ऊंची चौपाल पर एक पलंग पड़ा था और उस पर लाला भगवान-दीन बैठे फरशी गुड़गुड़ा रहे थे। चारों ओर नौकर खड़े थे। एक ओर छिड़काव हो रहा था और लालाजी हुक्का पीकर शौच का आह्वान कर रहे थे। इसी समय एक अभियुक्त की भांति नौकरों के आगे बलवन्तसिंह आकर खड़े हुए। बलवन्तसिंह को देखकर लालाजी का पारा ऊंचा चढ़ गया और फटकार कर बोले—"क्यों ठाकुर! मिजाज हो गया है। एक तो

लगान नहीं दिया और तिस पर अकड़ और अकड़ पर बदतमीजी ! बीस बार नौकर भेजे और तुम्हारे मिजाज का ठिकाना ही नहीं। लाये रुपया ?"

बलवन्तसिंह (गम्भीरता से)—"लालाजी, मैं पहले ही कह चुका हूं कि सौ ठौर से करूं, कल आपको रुपया जरूर दे दूंगा। आज सुबह से लगा हूं। अन्न का एक दाना भी मुंह में नहीं गया। नाज तैयार है। शहर में कल नाज बेचकर रुपया ले आऊंगा।"

भगवानदीन—"मेरी बला से, जो मुंह में अन्न नहीं गया ! तुम्हारे न खाने से मैं अपनी जमींदारी थोड़े ही बर्बाद कर दूंगा।"

बल०—"तो आज तो कोई उपाय नहीं है।"

भगवानदीन—"मैं नहीं जानता। मेरे जाने तुम अपनी लुगाई का लहंगा बेचकर रुपया लाओ। बस आधे घंटे की मुहलत है।"

बल० (आवेश को रोककर)—"अच्छी बात है। लुगाई का लहंगा बेचकर ही लगान आज चुकाऊंगा। आध घंटे की मुहलत है न !"

जमींदार (शौच का लोटा उठाते हुए और त्यौरियां चढ़ाते हुए)—"हां, एक मिनट ज्यादा न हो। वह देखो सामने घड़ी है।"

बलवन्तसिंह के जाने पर लाला भगवानदीन के खुशामदियों ने कहा—"सरकार लोगों की नब्ज खूब पहचानते हैं। हमने तो समझा था कि बलवन्तसिंह वे तिल हैं जिनमें तेल नहीं है।"

भगवानदीन (अभिमान के साथ)—"दाई से कहीं पेट छिपता है। यह बलवन्त बड़ा बना हुआ है। अपने को बड़ा आदमी समझता है। है तो पचास बीघे का जोता; पर अकड़ रखता है रईस की-सी। आज बच्चू फंसा है आंकड़े में, पर उसके पास रुपया होगा। पोढ़ा किसान है।"

घर आकर बलवन्तसिंह ने अपनी स्त्री और माता को सब बात सुनाई और कहा—"अब मेरा अन्तिम समय आ गया है। बस विदा मांगता हूं, उस जीवन पर हजार लानत है जो अपनी स्त्री, बहन और लड़की के विषय में ऐसी बातें सुने। हिन्दू आदर्श का ह्रास उसी समय हो गया था जब भीष्म, कर्ण, अर्जुन और भीम के सम्मुख द्रौपदी का चीर खींचा गया। पाण्डव बहुत बड़े थे। उनकी बुद्धि भी बड़ी होगी। मैं तो साधारण-सा आदमी

हूं। और जब तक दम में दम है मैं उस आदमी की जीभ या गला काटे बिना न मानूंगा जो मेरी स्त्री का लहंगा उतरवाना चाहता है। उस नर-पिशाच को मैं पाठ पढ़ाना चाहता हूं कि यद्यपि मैं गरीब हूं तो भी इज्जत रखता हूं और मेरी स्त्री की वही इज्जत है जो उस धूर्त भगवानदीन की स्त्री की है। आज मेरी आंखों से खून बरस रहा है। आज वह दुष्ट भगवान-दीन है या फिर मैं ही हूं। बस जाता हूं"—ऐसा कहकर उसने तलवार उठाकर नंगी की और उसे चूमा और कहा—"तू ने हमारी रक्षा की है। आज तेरा ही सहारा है।" एक दोहर ओढ़कर और तलवार छिपाकर यमराज की मूर्ति बलवन्तसिंह भगवानदीन की चौपाल की ओर बढ़ा। जो जितेन्द्रिय है उसे कोई वासना अपनी ओर नहीं खींच सकती। जिसने मरने या मारने का प्रण कर लिया है, उसके लिए जैसा ही एक वैसे ही हजार और करोड़। जो अपनी जान देने पर उतारू है वह हजार ढंगों से अपने शत्रु तक पहुंच सकता है। मरना तो है ही। साथ में शत्रु को भी ले चलें —ऐसी भावना से प्रेरित व्यक्ति को किसका डर। बलवन्तसिंह भी उस समय ऐसा ही व्यक्ति था।

चौपाल पर चौकी पर बैठे लाला भगवानदीन कुल्ला कर रहे थे। बलवन्तसिंह को दोहर ओढ़े देखकर लालाजी को कुछ भय-सा हुआ, पर संभलकर बोले—"रुपये लाये?"

बलवन्तसिंह—"हां, लहंगा बेचकर रुपया लाया हूं, पर लहंगे का मूल्य असाधारण है। देख तेरी सात साख को मालूम हो जायेगा कि तेरी बद-कलामी का क्या फल है। नीच!"

लाला भगवानदीन का सिर धूल में लोटने लगा। एक नौकर ने बलवन्त-सिंह को पकड़ना चाहा और फलस्वरूप एक वार उस पर भी हुआ। एक बांह उसकी भी कट गई।

बलवन्तसिंह फरार हो गये। उनकी गिरफ्तारी के लिए पुलिस ने पांच सौ रुपये का इनाम रखा। वर्षों बीत गये; पर बलवन्तसिंह का कुछ पता न चला। भगवानदीन के घरवालों ने अपनी ओर से हजारों रुपये खर्च किये कि कहीं बलवन्तसिंह का पता चल जाय, पर न मालूम वह पृथ्वी के किस

कोने में जा छिपा था। एक के बाद एक करके अनेक वर्ष वीत गए। भगवानदीन के उत्तराधिकारी ने ऐयाशी में अपनी सब पैतृक सम्पत्ति फूंक दी। बलवन्तसिंह वाली घटनाएक कहानी-सी हो गई —एक वहुत साधारण-सी कहानी।

भगवानदीन के कत्ल के ठीक तीस वर्ष बाद दो जवान आदमियों ने एक सत्तर वर्ष के बूढ़े को पेश किया और पांच सौ रुपये मांगे। पुलिस ने जांच की और वह बूढ़ा बलवंतसिंह था।

भगवानदीन को वध करके वह ग्वालियर राज्य के कोने में जा बसा था और वहीं उसने दूसरा विवाह किया था। उससे उसके दो लड़के हुए। तीस वर्ष बाद उसने अपने लड़कों से कहा—"अब मेरे मरने का समय निकट है। मेरी गिरफ्तारी के लिए पांच सौ रुपए का इनाम है। मेरा विश्वास है कि मुकदमे के दौरान में ही मैं चल बसूंगा। जो लोग अपनी स्त्री-बच्चों की मान-मर्यादा की रक्षा करनेवालों की गिरफ्तारी पर पांच सौ रुपये इनाम रखते हैं तो उनको भी कुछ दण्ड क्यों न दिया जाय। उस पांच सौ की रकम में से ढाई सौ रुपये अपने काम में लाना और ढाई सौ की लागत के पचीस लहंगे गांव की बहू-बेटियों को बांट देना।"

लड़कों ने पहले तो इनकार कर दिया पर बलवन्तसिंह की जिद्द और अन्तिम इच्छा प्रकट करने तथा समझाने-बुझाने पर वे राजी हो गए।

पांच सौ रुपये बलवन्तसिंह के लड़कों को मिले और मुकदमे की दूसरी पेशी तक बलवन्तसिंह का देहावसान हो गया।

भगवानदीन की जमींदारी मिट गई और मिट गया साथ में उनका वंश, पर बलवन्तसिंह की औलाद अब भी है और उनके कुटुम्ब के लोग उनका नाम बड़े आदर से अब भी लेते हैं।

हरनामदास

ऋषिकेश और लक्ष्मण झूला के बीच, टिहरी राज्य का एक स्थान है—मुनि की रेती। गंगाजी पर बसे होने पर भी वह अब ऊजड़-सा हो गया है। स्टेट गैरेज और कारखाने के पास खड़े होने से तो वह काटने दौड़ता है; पर सन् 1922-23 में वहां खासी रौनक थी। वह मधुमक्खी का छत्ता-सा बना हुआ था। डांडियों के बनने और चिड़ियाघर के जीवों को देखने के लिए वहां यात्रियों के ठट्ठ-के-ठट्ठ लग जाते थे। बरसात में बबूल के पेड़ पर लगे बया के घोंसलों में जैसी चहल-पहल होती है, वैसा ही कुछ समां मुनि की रेती में था। एक उपनिवेश-सा बस रहा था। मीठी चीज पाकर जैसे चींटियां चारों ओर से आ जाती हैं, वैसे ही न-मालूम कहां से वहां दुकानदार आ गये थे। किसी की गुड़-चने की दुकान थी, तो कोई हलवाई बना बैठा था। तेल की पूरियां और तम्बाकू की भी काफी बिक्री थी। परचूनी वालों को तो अवकाश ही न मिलता था। कुली और मजदूर दाल-आटा लेकर गंगा-किनारे रोटी बनाने लगते थे। दोहपर और शाम को मुनि की रेती में यह मालूम होता था, मानो सेना पड़ाव डाले पड़ी है।

मुनि की रेती में अनेक दुकानदार थे, पर उन सबकी जान था एक पंजाबी पकौड़ी वाला। उसके पास दुकान में माल अधिक न था। एक कड़ाही, दो लोटे, एक थाली, एक करछी और सेर-दो सेर बेसन—बस, यही सामान उसकी दुकान पर था। दिन में दो बार कड़ाही चढ़ाता, और बात-की-बात में अपनी पकौड़ियां बेच लेता। स्वभाव का वह इतना अच्छा

था कि चलते आदमी से उसकी दोस्ती हो जाती थी। एक बार जिसने पकौड़ियां खायीं, वह रोजाना ही उसकी दुकान पर आता। ठलुआ लोग तक उसकी दुकान पर गप मारने आ जाते और उसी बहाने पैसे-दो पैसे की पकौड़ी खरीदते। बात यह थी कि पकौड़ीवाला दिल का धनी था। दीन-दुखियों को बची-खुची पकौड़ी बांटना, आस-पास के रोगियों की खबर-सुध लेना, सेवा-सुश्रूषा करना, भूखे-प्यासे को खाना देना और लतीफे सुनाना उसके स्वभाव में शामिल था। अक्खड़ वह इतना था कि ठीक बात पर राज्य के दीवान और उसके रिश्तेदारों तक की परवाह न करता था। भलों के लिए वह कपिला गाय था, और दुष्टों के लिए नंगी तलवार। बेलौस आदमी था, इसलिए किसी की परवाह न करता था। उसकी लोकप्रियता और अक्खड़पन की बातें राज्य के दीवान तक पहुंचीं, और पहुंचीं शिकायत के रूप में, पर उसने उन शिकायतों की उपेक्षा ही की। अलमस्त पकौड़ीवाला अपनी दुकान करता रहा, और गंगाजी की धार के समान उसकी बातें और लतीफेबाजी चलती रही।

जनवरी सन् 1924 के एक प्रातःकाल को पकौड़ीवाले ने अपनी भट्ठी गरम की। हरिद्वार, ऋषिकेश और मुनि की रेती का जाड़ा और तिस पर 'ढाड़ू'[1] का वेग ! जाड़ा मज्जा तक को ठिठरा रहा था। पकौड़ीवाला आग तेज करके तेल का बर्तन उठाने ज्यों ही मुड़ा त्यों ही दुकान के सामने खड़े एक संन्यासी पर उसकी नजर पड़ी। वह संन्यासी दुकान के सामने होकर प्रतिदिन टहलने जाया करते थे, और जिज्ञासु तथा कौतूहलपूर्ण दृष्टि से उधर देखा करते थे। पकौड़ीवाला भी उनकी ओर देखकर अपने काम में लग जाता था। संन्यासी की आकृति पकौड़ीवाले को देखकर ऐसी हो जाती थी, मानो उनकी स्मृति किसी भूले नाम को स्मरण कर रही हो। किसी-किसी दिन वह संन्यासी पकौड़ीवाले की दुकान के सामने ठिठक भी जाते थे; पर रुककर उससे बातचीत करने का साहस न होता था। पकौड़ी वाले की आकृति उस आदमी से मिलती थी, जिसके वे अतिथि रहे थे। और

---

1. हरिद्वार और ऋषिकेश के आस पास प्रातःकाल चलनेवाली हवा।

उनके आतिथ्य में जिसने सात-आठ हजार रुपया खर्च कर दिया था; पर उतना बड़ा आदमी अलादीन के लैम्प के जादू से ही उस तुच्छ पकौड़ीवाले की हैसियत में आ सकता था—ऐसी शंका के कारण संन्यासी उस पकौड़ीवाले से कुछ न पूछते थे। उसकी सूरत तो उनके वैभवशाली मेजबान की-सी थी। वही छरहरा बदन, वही चेचकरू चेहरा और वही परिचित स्वर ! पर वह आन और शान न थी। छः-सात मोटर रखनेवाले और लाखों के व्यापारी से पकौड़ीवाले की सूरत क्यों मिलती है ? क्या वह उनके धनी-मानी मेजबान का कोई भाई है ? क्या भाग्यचक्र के चपेटों से उसका कोई भाई गंगा की शरण में, पहाड़ के सहारे, अपने अन्तिम दिन काट रहा है ? इन सब प्रश्नों का कोई उत्तर न मिल रहा था, इसलिए संन्यासी ने कई दिन के सोच-विचार के बाद उस दिन पकौड़ीवाले से ही बात करने की ठान ली, और दुकान के सामने संन्यासी को खड़ा देखकर पकौड़ीवाला मुसकराकर बोला—"कहिये स्वामीजी महाराज ! क्या जाड़ा लग रहा है ? तापना चाहो, तो भट्ठी के पास आकर बैठ जाओ।"

संन्यासी—"जाड़े की कोई चिन्ता नहीं। वह तो रोज की बात है। मैं आपसे एक बात पूछने खड़ा हूं। तबीयत नहीं मानती। आपका नाम क्या है, बस, मुझे यह बतला दो।"

पकौड़ीवाला (गम्भीरता से)—"मेरा नाम हरनामदास है।"

नाम सुनते ही संन्यासी महाराज की आंखों के सामने अंधेरा छा गया, दोनों हाथों से अपना सिर पकड़कर बैठ गये, और विस्मय से पूछा—"बगदादवाले हरनामदास ?"

हरनामदास—"हां, महाराज, बगदादवाला हरनामदास मैं ही हूं।"

संन्यासी—"यह क्या बात हो गई ! यहां पर इस दशा में कैसे ? यह तो अलिफ-लैला की कहानी-सी घटना है।"

हरनामदास—"मैं रहता भी अलिफ-लैला की कहानियों के देश में था। घटना तो ठीक वैसी ही है; पर मुझे अफसोस जरा भी नहीं। आनन्द भी मैंने लूटा था। कमाया भी मैंने बहुत। सुख और आनन्द का दूसरा पहलू है दुख और कष्ट। जीवन का एक यह भी अनुभव है। खटाई और

नमक के खाये बिना मिठाई का मजा नहीं आ सकता। सो स्वामीजी ! उस मिठास का स्वाद इस कड़वेपन से आ रहा है।"

संन्यासी (आश्चर्य से)—"वह तुम्हारा रुपया और सम्पत्ति क्या हुई ?"

हरनामदास—"स्वामीजी महाराज ! सम्पत्ति की क्या बातें करते हो ! वह तो आती है, और चली जाती है। लक्ष्मी एक की होकर किसी की भी नहीं रही।"

संन्यासी—"भाई, मुझसे तो तुम्हारी यह दशा देखी नहीं जाती। कहां तुम्हारे दर्जनों टहलुए, और कहां आज तुम···इस दशा में !"

हरनामदास (तनिक हंसते हुए)—"स्वामीजी महाराज ! आप तो ज्ञानवान हैं। आप तो रुपये की ओर देखते हैं, मेरी ओर नहीं। रुपया और सम्पत्तिजन्य वैभव से मैं तो नहीं बदला। उस दशा में मैंने आपकी सेवा सोने के कुछ टुकड़ों से की थी, जो मेरी सम्पत्ति का नगण्य भाग थे—बस, हाथ के मैल के समान, और अब मैं आपकी सेवा अपनी पूरी सम्पत्ति से करने को तैयार हूं, और नौकरों के स्थान में स्वयं मैं मौजूद हूं।"

ये बातें सुनकर संन्यासी ने एक ठंडी सांस ली, और दुकान में आकर भट्ठी के सामने बैठ गये। आध घंटे तक वहां तापते रहे और हरनामदास से बातें करते रहे। चाय पीकर वहां से वे शोक और चिन्ता-मुद्रा में डूबे चले गये।

सन् 1927 के आरम्भ में देहरादून में 'हिन्दू-संसार' के मानहानि वाले मुकदमे की सुनवाई हो रही थी। अभियुक्त-पक्ष की ओर से गवाह बुलाने में बड़ी कठिनाई हो रही थी। मुद्दई के भय से टिहरी राज्य से जो गवाह आ रहे थे, वे अपनी हथेली पर जान रखकर आ रहे थे। जनवरी या फरवरी की किसी रात को वकील के घर पर मुकदमा-सम्बन्धी परामर्श रातभर होता रहा, और दो-एक विषय पर इतना वाद-विवाद हुआ कि प्रातःकाल के छः बज गये। कई मित्र तो लेट रहे। थोड़ी देर के लिए मैं भी आराम कुरसी पर पड़ रहा, और साढ़े छः बजे कमरे के दालान में

बाहर निकला। दालान से लगी नीचे जाने को सीढ़ियां थीं। मेरा कमरे के बाहर निकलना हुआ, और सीढ़ियों पर दो आदमियों का चढ़ना। उन्हें नीचे से ऊपर चढ़ते देख मैं खड़ा हो गया, और वे सीढ़ियों से ऊपर दालान में आ गये। उनमें एक संन्यासी था, और दूसरा साफा बांधे, छरहरे शरीर का—आकृति और वेश से—पंजाबी। पूछने की भावना से मैंने उनकी ओर देखा, और साफेवाला आदमी बोला—"बाबू चंडीप्रसाद वकील की यही कोठी है ?"

मैं—"हां, यही है। कहो, क्या है ? कहां से आये हो ?"

साफेवाला—"हिन्दू-संसार की तरफ से गवाही देने ये (संकेत करते हुए) स्वामीजी आए हैं।"

मैं—(स्वामीजी की ओर देखते हुए)—"स्वामीजी महाराज ! आपका शुभ नाम ?"

साफेवाला—"आपका नाम स्वामी कृष्णाचार्य है।"

मैं—"इस नाम का कोई गवाह 'हिन्दू-संसार' की ओर से तलब नहीं किया गया।"

संन्यासी—"मैं बिना तलब किये हुए ही आया हूं। हिन्दू-धर्म सम्बन्धी मामला है। मैंने जब समाचारपत्रों में पढ़ा कि अमुक अभियोग लगाया गया है, तब मैंने धर्म की खातिर यह उचित समझा कि मैं स्वयं चलकर गवाही दूं।"

मैं—"आपके पास इस बात का क्या प्रमाण है कि आप घटना-स्थल के गवाह हैं ?"

संन्यासी—"मैं डायरी रखा करता हूं। आप डायरी देख लें।"

मैं (डायरी पढ़कर और साफेवाले की ओर सम्बोधित होकर)—"आप कौन हैं ?"

साफेवाला—"आपको मुझसे क्या सरोकार ! स्वामीजी का एक सेवक हूं।"

साफेवाले की यह रुखाई मुझे पसन्द नहीं आयी, और मैं उसके उत्तर को अशिष्टतापूर्ण समझ कुछ कहने ही को था कि इतने में संन्यासी बोल पड़े—"इनका नाम हरनामदास है। पहले ये बहुत बड़े व्यापारी थे।

इनका लाखों का कारोबार बगदाद और बसरा में था। अब मुनि की रेती में रहते हैं।"

हरनामदास की बातचीत से मुझ पर अच्छा प्रभाव न पड़ा, और यह सन्देह होने लगा कि कहीं गुरु-चेले की मिलीभगत न हो। मुझे स्वामीजी और हरनामदास की बातों में 'मनतुरा हाजी बिगोयम तू मिरा क़ाजी बिगो'[1] की गन्ध आयी।

कुछ दिनों बाद मुझे ऋषिकेश जाने का अवसर पड़ा, और मिस्तरी केसरसिंह की दुकान पर जाकर बैठा ही था कि भीतर से हरनामदास निकला। मुझे देखकर वह बाग-बाग हो गया और ऐसे मिला, मानो वर्षों से मुलाकात हो। झट से पानी लाया और हाथ धोने को कहा। मैंने बहुत कुछ कहा कि मुझे हाथ धोने की जरूरत नहीं, पर वह न माना। शीघ्र ही अंगूठे से सोडा की बोतल खोल दी और मेरे हाथ में दे दी। सोडा और लैमोनेड मुझे अच्छा नहीं लगता, पर उस आवभगत के मारे मुझे मन मारकर पीना पड़ा। सोडा के बाद फल और मिठाई खानी पड़ी। यह आतिथ्य उस शुष्क मिलन के कारण था, जब हरनामदास स्वामी कृष्णाचार्य को लेकर देहरादून गया था, और आठ-दस मिनट की अति साधारण और वकीलों की-सी बातों के उपरान्त मैंने उससे यह भी न पूछा था कि चाय पियोगे। भोजन की तो बात ही क्या हो सकती थी। हरनामदास के स्वभाव पर मुझे आश्चर्य था। खाने खिलाने में उसकी आंखों से संतोष, प्रसन्नता और आत्म-गौरव की ज्योति चू रही थी। उसकी आंखें रसीली-सी थीं। जो बात करता था, वह ऊंचे स्वर में। भीतर और बाहर वह एक-सा ही प्रतीत होता था।

हरनामदास के व्यक्तित्व का अनुमान तो मुझे ऋषिकेश में हो गया था। उसकी मुखाकृति से उसके चरित्र का पता मैं कुछ लगा सका; पर न जाने क्यों इस बात पर विश्वास न होता था कि अरब में ने लाखों उस रुपये कमाये होंगे। मुझे उस कथन में अतिशयोक्ति की मात्रा अधिक मालूम होती थी।

---

1. मैं तुझे हाजी कहूं और तू मुझे काजी कह।

सन् 1928 के जाड़ों के दिन थे । खेतवाली कुटिया से मैं घर—गांव में—कोई चीज लेने गया था। अभी मैं घर पहुंचा ही था कि पीछे से एक नौकर भागता आया कि···साहब आये हैं ।···साहब एक अति उच्च पदाधिकारी थे । उनसे मिलने में, उन तक पहुंचने में, न मालूम कौन-कौन से नियमों का पालन करना पड़ता था । वे महानुभाव कैसे आ गये ! उन्हीं पैरों मैं लौटा और कुटिया पर आकर देखा, तो हरनामदास और ···साहब हैं ।···साहब को पीड़ा से इतना कष्ट था कि उनसे दस कदम पैदल न चला जाता था। डेढ़ मील स्टेशन से हरनामदास उनको अपनी पीठ पर रखकर लाया था । उस दिन से मुझे हरनामदास का वास्तविक रूप दिखाई पड़ा । तब से कई महीने तक हरनामदास का गांव में रहना हुआ। बीसियों बार उसके साथ मैंने यात्रा की; देहरादून से दिल्ली, दिल्ली से कलकत्ता, शिमला, जयपुर और लखनऊ तक न मालूम कितनी बार वह साथ रहा ।

हरनामदास···साहब की क्रीतदास की भांति सेवा करता था । नौकरी के लिए नहीं । नौकरी तो वह परमात्मा तक की नहीं कर सकता, और न वह यह भविष्य की किसी आशा से करता था । ऐसा करना होता, तो वह अपनी मुनि की रेती की ढाई-तीन सौ रुपया मासिक की आमदनी की दुकान को केवल सेवा की खातिर चौपट न कर आता । उसके आने और सेवा करने के केवल दो कारण थे—पहला तो यह कि···साहब ने मनुष्यता के नाते हरनामदास की कठिन बीमारी में अपने नौकरों से कुछ सुश्रूषा करा दी थी । बस, उनके उस गुण पर हरनामदास लट्टू था । दूसरा कारण था···साहब का स्वार्थी और नीच लोगों के कारण कष्ट और विपत्ति के आवर्त में पड़ जाना । हरनामदास की कोमल आत्मा किसी का कष्ट नहीं देख सकती । दूसरों के कष्ट-निवारण के लिए उसकी मनुष्यता दुःखित होकर आगे बढ़ती है और अपने आपको होम देती है । इन्हीं दोनों कारणों से प्रेरित होकर हरनामदास···साहब की सेवा करने पर तत्पर हुआ था ।

किसी व्यक्ति के गुण-दोष साथ रहने से ही प्रतीत होते हैं, नहीं तो दूर के ढोल सुहावने लगते ही हैं । हरनामदास के चरित्र का न केवल मैंने

अध्ययन ही किया, वरन् उसकी एक-एक बात को मैंने मालूम करने की चेष्टा की। हरनामदास के विषय में मैंने जो प्रश्न किये, उनका उत्तर तो मिला ही, साथ में प्रमाण भी मिला।

अम्बाला जिले में विरामपुर (पो० बेला) नाम का एक गांव है। हरनामदास का जन्म वहीं हुआ था। उसके दादा को महाराजा रणजीतसिंह से जागीर मिली थी। हरनामदास के पिता विरामपुर की एक विभूति थे। हरनामदास की छोटी आयु में ही वे चल बसे। मां का विछोह पहले ही हो गया था। इस कारण बालक हरनामदास का लालन-पालन उसके चाचा पर पड़ा। चाचा उसे बेहद प्यार करते थे; पर हरनामदास की चाची का व्यवहार उसके प्रति न तो मातृवत् था और न चाची का-सा। उसके चाचा इस बात को जानते थे; पर उस स्त्री के आगे किसी की नहीं चलती, जो घर की मालकिन कही जाती है। नौकरशाही के कारनामों को न देखकर कोई घर की नौकरशाही स्परूपा उस स्त्री को देख ले, जो अपने बच्चों और अपने पति के अतिरिक्त औरों को गुलाम समझती हैं। ऐसी स्त्रियों की संकीर्णता और स्वार्थपरता पर ही सम्मिलित कुटुम्ब की नौका टकराकर चूर-चूर हो जाती है। ऐसी स्त्री सीधी-सादी स्त्रियों को अपनी चालबाजी से झूठा भी साबित कर देती है। बस, नौकरशाही के-से सभी ढोंग रचती है। यदि इस व्यवहार से तंग आकर कोई विद्रोह कर दे, तो आंसू बहाकर कहती है—"मरने के बाद मैं क्या छाती पर रख ले जाऊंगी।" छाती पर रखकर तो कोई नहीं ले जाता, पर जमादारी नहीं छोड़ी जाती। हरनामदास को खाने-पीने का कष्ट न था। घर भरपूर था। चाचा का दुलार था; पर चाचा का प्रेम चाची की जमादारी के कारण नहीं के बराबर था। जहां चाचा घर से दूर होते, चाची हरनामदास को दुत्कारती और धमकाती। घर की मालकिन की जमादारी बड़ी भयंकर होती है। वह मारती भी है और रोने नहीं देती। हरनामदास को घर बूचड़खाने से अति भयंकर मालूम होता था। कहीं भाग जाने को आत्मा तड़प रही थी। सन् 1895 में नौ वर्ष के बालक हरनामदास ने अपने को मातृभूमि से सैकड़ों मील दूर पाया; पर उसके लिए घर के नरक से बसरा स्वर्गतुल्य

था। उन दिनों पर्शियन ऑयल कम्पनी का दौर-दौरा था। नासीरिया से मिट्टी का तेल लाने के लिए वहां पाइप लगाये जा रहे थे। कम्पनी का दफ्तर अबादान में था। हरनामदास को भी कम्पनी की नौकरी मिल गई, और वेतन था पैंतीस रुपये मासिक। कम्पनी के संचालकों को एक बड़ी दिक्कत बोल-चाल की अरबी न जानने की थी। जो अंग्रेज आता था, वह बोल-चाल की अरबी सीखने का प्रयत्न करता था। बिना उसके वहां के लोगों से वार्तालाप और व्यापार करने में बड़ी कठिनाई थी। कम्पनी के नौकर टूटी-फूटी अरबी से काम चलाते थे। हरनामदास का काम था वहां पर पाइपों की ढिबरियों को कड़ा करना। उमर थोड़ी थी, और इस कारण वह अरबी लोगों के घरों में बेधड़क चला जाता था, और बच्चों में खेल भी आता था। एक विदेशी अबोध बालक को देखकर अरबी स्त्रियां उससे बातें करने लग जातीं, और उसके मातृ-विछोह पर तरस खातीं। हरनामदास इस प्रकार बोल-चाल की अरबी जानने लगा। बच्चों में खेलने जाता, और वहां की स्त्रियों से बातें करता। बोल-चाल की भाषा सीखने के लिए सबसे अच्छा ढंग है भाषा-भाषियों के गार्हस्थ्य-जीवन से सम्पर्क। बालक होने के कारण हरनामदास को ऐसा अवसर मिला। हंसी और खेल का आनन्द समवयस्क के साथ ही होता है। बच्चे और जवान के खेल में हृदय की कली की सुगन्ध-संचारिणी चटकन नहीं। हरनामदास का खेल-कूद का समय अरबी बच्चों और स्त्रियों में बीतता। फलस्वरूप बोल-चाल की अरबी पर उसका असाधारण अधिकार हो गया।

पर्शियन ऑयल कम्पनी के प्रधान इंजीनियर अपनी नव-विवाहिता वधू के साथ एक दिन टहलने जा रहे थे, और दोनों में इस बात पर बाजी लगी हुई थी कि कौन अरबी अधिक जानता है। किसी शब्द पर वाद-विवाद था। पति का कहना था कि अमुक चीज का अमुक अरबी नाम है, और पत्नी उस चीज का कोई दूसरा ही अरबी नाम बताती थी। हरनामदास अरबी लोगों के घर से निकल रहा था, और उसने दोनों की बातें सुनी। दोनों को गलत पाकर बाल-स्वभावानुसार हरनाम-दास ने मुसकराकर कहा—"आप लोग दोनों गलत हैं।" यह कह-

कर उसने उस चीज का अरबी नाम बता दिया। इंजीनियर और उसकी स्त्री हरनामदास की बातों से बड़े प्रभावान्वित हुए, और एक अरबी को बुलाकर उन्होंने हरनामदास की बात की सत्यता की जांच की और उस अरबी और हरनामदास में बातें करा दीं। हरनामदास ने फर्राटे के साथ अरबी बोली। साहब की आंखें खुलीं। मेम तो उस पर मुग्ध हो गई, अगले दिन से हरनामदास की ड्यूटी साहब के बंगले पर लग गई। काम था साहब और मेम को बोलचाल की अरबी सिखाना। मजदूरी के काम से एक प्रकार की अध्यापकी मिली।

इधर हरनामदास तेजी से बालकपन से युवावस्था की ओर कदम बढ़ा रहा था। वहां के रहन-सहन से उसको खाने-पीने का शौक लग ही गया था। मयनोशी तो वहां की साधारण-सी बात थी। मयनोशी के साथ जवानी की अलमस्ती भी बढ़ रही थी। युवावस्था उसके चेहरे-मोहरे से फूट-फूटकर निकल रही थी। चितवन में वह बालकपन का भोलापन न था। हंसी में वह दैवी माधुर्य न था। और तो और, प्रकृति ने भी युवावस्था का साइन-बोर्ड—दाढ़ी और मूंछ—मुंह पर लगा दिया था। ईरान की वायु ने कहा—"ए जवांमर्द, नौकरी की जड़ आकाश में है। वह गुलामी का परिष्कृत रूप है। तू आगे बढ़ और व्यापार कर। नौकरी की संकरी बटिया पर कब तक चलेगा?" युवा हरनामदास ने होंठों पर के दोनों मिकनातीसों—मूंछों—पर हाथ फेरा और कहा—'एवमस्तु।' अगले ही दिन मेम साहब से उसने कहा—"मेम साहिबा, मैं तो अब दुकान करूंगा। नौकरी न मुझे पसन्द है, और न उसमें मुझे मजा ही आता है।"

मेम हरनामदास पर बहुत प्रसन्न थी, उसने अगले ही दिन दर्जनों मजदूर लगाकर हरनामदास की दुकान तैयार करा दी। बांस और लकड़ी के तख्तों से कामचलाऊ बहुत बढ़िया दुकान बन गई, और तीसरे दिन से बिक्री होने लगी।

अबादान में पर्शियन ऑयल कम्पनी की सीमा के निकट पहले एक ही दुकान थी। प्रतिद्वन्द्विता के अभाव के कारण दुकानदार ग्राहकों की परवाह न करता था। कसकर दाम लेता था और तिस पर नखरे दिखाता था। हरनामदास की दुकान खुलते ही ग्राहकों की आमद का तूफान उसकी

ओर आने लगा और अन्धाधुन्ध बिक्री होने लगी। इसके अतिरिक्त कुछ अनुचित व्यापार भी हुआ और वह था लुका-छिपाकर मंजूरशुदा मिकदार से अधिक में शराब का बिकना। कस्टमवालों की जेबें गरम की गयीं और किसी दूसरी चीज के बहाने हरनामदास की दुकान में सैकड़ों दर्जन शराब की बोतलें भी आने लगीं। एक वर्ष में ही अस्सी हजार का मुनाफा हुआ और वह रकम प्रतिवर्ष बढ़ती ही गयी।

पाप में पतन के बीज स्वतः ही हुआ करते हैं और समय पाकर वे ऐसे फूट निकलते हैं, जैसे जमीन में छिपे घास के बीज बरसात का पानी पड़ते ही उग पड़ते हैं। लोगों को हरनामदास की इस सम्पत्ति-नदी की चढ़ती और बढ़ती धार को देखकर ईर्ष्या हुई। उन्होंने कम्पनी के मैनेजर से शिकायत की कि हरनामदास चोरी से शराब बेचता है। बेचते सब थे और शिकायत करने वालों ने इस कारण से शिकायत न की थी कि चोरी से शराब बेचने के वे विरोधी थे, वरन् इसलिए कि वे उस प्रकार के व्यापार में अपना भाग चाहते थे। तहकीकात हुई। हरनामदास अपने पुराने मित्र इंजीनियर तक से लड़ बैठा। उसने इस बात को स्वीकार किया कि वह इस प्रकार शराब बेचता है; पर उस प्रकार के व्यापार में गोरों की शह ही नहीं, वरन् हाथ भी था। गौरांग प्रभुओं को यह बात असह्य थी। चोरी से शराब बिके ! कोई बेचे और चाहे कोई पिये ; पर कानून और प्रकाशन में यह बात न आये कि गोरे लोग भी उस काम में शामिल हैं। हरनामदास की हितैषिणी मेम उस समय विलायत में थी और उसके पति से, जो अब मैनेजर था, हरनामदास की ठनी हुई थी। मुकदमेबाजी में लगभग सब रुपया फुंक गया। मुकदमा-रूपी कुम्भज उस दो-चार लाख की निधि को सूंत गया ; पर हरनामदास की बात रह गयी।

सन् 1914 का महायुद्ध-रूपी ज्वालामुखी फूट पड़ा। सम्पूर्ण यूरोप धुआं-धार हो उठा। टर्की ने इंग्लैंड के विरुद्ध मोरचा लिया, और जर्मन सैनिक जनरलों ने अंग्रेजों को चारों ओर परेशान कर दिया। जर्मन और तुर्कों के आक्रमणों को रोकने के लिए जनरल टाउनशैंड बगदाद की ओर भेजे गये। जंगी जहाज 'स्पैकिल' बगदाद की खाड़ी में तोपों से सुसज्जित खड़ा

था ; पर टाउनशैंड को ऐसे आदमियों की जरूरत थी, जो अरबी खूब बोल लेते हों और सैनिकों को खाद्य-सामग्री भी दे सकें। चिन्तामग्न जनरल टाउनशैंड गुप्त रूप से पर्शियन ऑयल कम्पनी के दफ्तर में आये और ऐसे आदमी की खोज में लगे। मैनेजर तक को हरनामदास की ही सिफारिश करनी पड़ी। यद्यपि वह हरनामदास से खार खाये बैठा था ; पर मरता क्या न करता। हरनामदास को छोड़कर वहां कोई दूसरा ऐसा आदमी न था, जो बोलचाल की अरबी में दक्ष हो और जो व्यापार को जानते हुए अपनी जान हथेली पर लिये फिरता रहे। जनरल टाउनशैंड और हरनामदास की बातचीत हुई और उसी दिन से दोनों की दोस्ती गंठ गयी।

तूफान से जैसे मरुभूमि में टीले कहीं-के-कहीं जा बनते हैं, उसी प्रकार युद्ध के तूफानकाल में सम्पत्ति की ढेरियां लग गयीं। ऐरे-गैरों तक की बन आयी। पाट, फाटका, रूई और युद्ध की सामग्री बेचने वालों की पांचों घी में थीं। लाखों आदमी मर रहे थे। घायलों की चीत्कार और तोपों की गर्जन से सब दिशाएं कांप रही थीं। विधवाओं की आहों से सहृदयों के टुकड़े हुए जाते थे ; पर व्यापारी बन रहे थे। जिनको युद्ध से पहले बात-चीत करने का शऊर तक न था, वे ठेका या व्यापार के कारण नवाब बन रहे थे। ऐसे काल में हरनामदास की कौड़ी चित पड़ी, तो क्या आश्चर्य। वह तो रणक्षेत्र में था, जहां बीसियों बार बम उसके पास फटे और जहां गोलियों की आकस्मिक वृष्टि से उसके साथियों के हाथ के ग्रास हाथ में रह जाते थे। हरनामदास ने यदि एक-एक दिन में तीस-तीस हजार कमाया, तो क्या आश्चर्य !

बगदाद में हरनामदास की धाक थी। जनरल टाउनशैंड के वह खास दोस्तों में था। उनके कैम्प में वह किसी भी समय जा सकता था। सिपाहियों के लिए वह हलवाई की दुकान किए था और उसकी कई दुकानें थीं, पर बगदाद में ही उसकी खास गद्दी थी।

वाई० एम० सी० ए० के साथ भी हरनामदास ने काम किया था और इतना अच्छा काम किया था कि स्वर्गीय के० टी० पाल ने उसके विषय में

समाचार-पत्रों में लिखा। तीन-चार वर्ष की लड़ाई में हरनामदास ने पचास-साठ लाख रुपया कमाया।

तोपें गरजतीं और गोले उगला करतीं। युद्ध की भयंकरता उग्र हो रही थी ; पर संसार के सभी काम हो रहे थे। हरनामदास का भोग-विलास भी जारी था। सायंकाल को जब अवकाश मिलता, तब दोस्तों की बैठक जमती। ईरानी, इटालियन और फ्रांसीसी शराब—बढ़िया-से-बढ़िया शराब के दौर रहते। उधर महफिल जमती और तबला ठनकता। बगदाद की बढ़िया-से-बढ़िया नर्तकी का नृत्य होता और महफिल में एक-एक हजार का नोट फेंक दिया जाता। नर्तकी उसको आंख की पलकों से उठा लेती।

रात को सोते समय दर्जनों नौकर उसकी टहल में लग जाते। कोई टांगें दबाता, तो कोई उंगलियां चटकाता और बगल में पचास रुपया मासिक वेतन और खुराक पर कहानी कहने के लिए रखा हुआ पठान कहानी कहने लगता। गम गलत तो हरनामदास को करना न था। उसके भोग-विलास की एक दिशा थी। सिक्ख-धर्म का उस पर प्रभाव था। उसने उसकी रक्षा की। वहां के समाज ने सच्चरित्रता की जो सीमा बांध दी है, उसका उल्लंघन उसने नहीं किया। उसने वहां सत्रह विवाह किए थे, अरबी स्त्रियों से वहां के कानून के अनुसार निकाह नहीं, मुताह किए थे। कुछ दिनों के लिए एक से मुताह किया और नियत समय के बाद उसको तलाक दे दिया।

इस आपत्तिजनक चित्र के पहलू का एक दूसरा रूप भी था। हरनामदास ने युद्ध-काल में बिक्री की आमदनी में आने वाली दुअन्नियों और चवन्नियों को गद्दी पर नहीं रखा। इन्हें वह गरीबों और जरूरत वालों में बांट दिया करता था। स्मरण रहे, दुअन्नी और चवन्नी से प्रति-दिन सैकड़ों की आमदनी होती थी। हलवाई की दुकान पर दुअन्नी और चवन्नियों का आना—अधिक संख्या में आना—स्वाभाविक ही था। यदि एक रेजिमेंट के लिए हजारों की खाद्य सामग्री जाती थी, तो लड़ाई से लौटे हुए सिपाही—फायरिंग लाइन से दूर—खुद मिठाई लेकर खाते थे।

गरीब आदमियों की कन्याओं के विवाह का खर्च हरनामदास अपने ऊपर लेता था। जिसका कहीं ठिकाना न था, जिसको भाग्य ने ठुकरा दिया था, उसका आश्रय हरनामदास था। कष्ट-पीड़ितों की रक्षा के लिए वह बड़े-से-बड़े गोरों को कुछ न समझता था। सुपरिंटेण्डेण्ट पुलिस और डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट की हैसियत के अनेक गोरों को उसने पिटवाया था। जब जनरल टाउनशैंड के साथ उसकी दोस्ती थी और जब हरनामदास उनकी नाक का बाल हो रहा था, तब किसी टुटपुंजिये गोरे का क्या ताव, जो हरनामदास के विरुद्ध कुछ कर सके! युद्ध-काल में वर्ण-भेद पर ग्रहण लग गया था।

कुत का घेरा पड़ा और जनरल टाउनशैंड तथा उनकी सेना फन्दे में फंस गई थी। हरनामदास ने हवाई जहाजों से खाद्य-सामग्री पहुंचाई, और यदि पांच मिनट की देर हो जाती, तो हरनामदास को भी टाउनशैंड के साथ आत्म-समर्पण करना पड़ता।

दिन के बाद रात और रात के उपरान्त दिन का होना प्रकृति का नियम है। युद्ध के उपरान्त शान्ति हुई। हरनामदास ने रुपया भी कमाया, यश भी कमाया। मेडल्स (तमगा) और धन्यवादों की तो गिनती ही क्या। उसको पंजाब में कुछ जमीन भी पुरस्कार-स्वरूप मिलने की आज्ञा हुई; पर बगदाद में अब जनरल टाउनशैंड और मौड का दौर-दौरा न था। ब्रिटिश साम्राज्य पर से शनिश्चर का ग्रह हट गया था। वर्ण-भेद का ग्रहण भी समाप्त हो चुका था।

गोरे और काले के भेद का भूत अधिकारी गोरों के सिर पर चढ़कर बोलने लगा। एक दिन हरनामदास की गद्दी पर पुलिस ने छापा मारा, और उसको यह हुक्म दिया गया कि तीन घंटे के अन्दर बगदाद छोड़कर हिन्दुस्तान चले जाओ। हरनामदास अपने नशे में चूर था। उसने पुलिस की धमकी को कोरा मजाक समझा; पर वह मजाक न था। हरनामदास के कई आदमियों को पुलिस ने पहले से ही मिला रखा था। उन्होंने पुलिस के षड्यन्त्र में सहायता दी। ठीक समय पर हरनामदास को जहाज पर पुलिस के घेरे में लाया गया। गद्दी पर उस समय अस्सी हजार रुपये थे। एक

मुसलमान मुनीम को साथ लेकर हरनामदास, अस्सी हजार रुपयों के साथ, हिन्दुस्तान को रवाना हो गया। खयाल था युद्ध-सेवा और मेडलों के जोर से पुलिस के षड्यन्त्र को फोड़ दिया जायेगा; पर भाग्य का तख्ता पलट चुका था। भारतवर्ष में पहुंचते ही मुसलमान मुनीम सत्तर हजार रुपया लेकर भाग गया! विपत्ति का पहाड़ टूटकर सीधा सिर पर आ रहा था; पर हरनामदास को कोई चिन्ता न थी। शेष दस हजार रुपया तो था ही, और अरब की लाखों की सम्पत्ति उसी की तो थी, ऐसा उसका खयाल था। लाखों रुपये उसने भले कामों में व्यय किये थे। तेरह लाख तो उसने मुताह और रंगरेलियों में उड़ा दिये थे, और लाखों रुपये उसके पास थे। छः-सात दुकानें थी, और भी सम्पत्ति थी। ऐसी दशा में मुनीम ने नमकहरामी की तो क्या बात है। 'हंडिया फूटी पर कुत्ते की जात मालूम हुई' की-सी भावना से हरनामदास ने पहले गंगा-स्नान की ठानी। विदेश में चौबीस वर्ष रहने के बाद वह लौटा था। गंगाजी के प्रति श्रद्धा होना स्वाभाविक था। फर्स्ट क्लास का टिकट कटाकर वह हरिद्वार के लिए रवाना हो गया।

हरिद्वार के समीप लुक्सर जंक्शन पर हरनामदास ने खिड़की से बाहर देखा, तो आर्तनाद में एक साधु कह रहा था—"बाबा, एक पैसा दे! भगवान् तेरा भला करेगा। बाबा, कल से कुछ नहीं खाया।" ऐसी घटनाओं से हरनामदास का कोमल हृदय सर्वदा पिघलता रहा है। जब साधु हरनामदास के डिब्बे के पास होकर निकला, तब वही आवाज लगाई। हरनामदास ने एक खोमचेवाले को बुलाकर कहा—"इस साधु को भरपेट पूरियां और मिठाई खिला दो। दाम मैं दूंगा।" साधु से बहुत न खाया गया। उस प्रकार कहकर मांगने की उसकी तो बान थी। साधु ने पानी पीकर हरनामदास को आशीर्वाद दिया—"बाबा, तेरे बेटे अमर हों।" बेटों की बात सुनकर हरनामदास ने मुसकराकर कहा—"हरिद्वार तो गंगा-स्नान करने नहीं जायेगा?"

"हां, बाबा, चलेंगे"—कहकर साधु तैयार हो गया।

हरिद्वार में जाकर एक धर्मशाला में डेरा डाला। धर्मशाला के प्रबन्धक

ने साधु को धर्मशाला में ठहरने की आज्ञा न दी, पर दस रुपये के एक नोट ने प्रबन्धक को मोम की भांति पिघला दिया। रात हुई। हरनामदास ने शराब के कई पैग चढ़ाये, और सुबह आंख खुली। साधु नदारद था, वह हरनामदास के बचे-खुचे दस हजार रुपयों के नोटों को लेकर चम्पत हो गया था। महासागर के बीच, जहां से समुद्र-तट सैकड़ों मील हो, हरनामदास का जहाज डूब गया। पास-पल्ले कुछ नहीं था। कलाई में बंधी साढ़े सात सौ की एक घड़ी थी। सोचा, उसी को बेचकर घर जाया जाय। घड़ी जो बेचनी चाही, तो चालीस रुपये से अधिक किसी ने दाम न लगाया। हरनामदास के मन को ठेस लगी। सब के सामने उसने घड़ी को पत्थर पर रखा, और धड़ाम से उसे जूते की ऐड़ से चूर-चूर कर दिया। लोगों ने उसे पागल समझा। कुछ आदमियों की भीड़ उसके चारों ओर एकत्र हो गई। हरनामदास के चेहरे पर गम्भीरता और उदासीनता का दृश्य था। लोगों की भीड़ को चीरता हुआ बोला—"जब मेरे इतने रुपये काम न आये; जब साढ़े सात सौ की घड़ी का मूल्य चालीस रुपये ही लगे, तब फिर वह घड़ी ही मेरी क्या सहायता कर सकती है।"

काली कमली वालों के यहां एक विचित्र आकृति का व्यक्ति रसोइया का काम करता था। हाल ही में आया था। वहां की भीतरी हालत देखकर और दाढ़ी से दोषों को छिपाने वालों की वास्तविकता से चकित होकर उसे बड़ा दुःख हुआ। नौकरी उससे कभी हो नहीं सकती थी। बदकलामी सहना उसके खून में न था। एक अधिकारी ने उससे कुछ कह दिया, और उस रसोइया ने उसे ठोंक-पीट दिया, और नौकरी छोड़कर वह चला गया। पीटने वाला रसोइया हरनामदास था।

हरनामदास ने बहुत हाथ-पैर पीटे। लिखा-पढ़ी बहुत की। कागजात, मेडल्स और टाउनशैंड-मैत्री और युद्ध-सेवा की तोप भी चलाई, पर कुछ न हुआ। न तो उसे बगदाद जाने का पासपोर्ट मिला और न सरकार—शायद इराक-सरकार—के यहां से कुछ हुआ। जवाब आया, तो यह आया कि उस नाम का कोई आदमी वहां न था, और न उसका वहां कुछ रुपया

है। हरनामदास का कहना है कि चलते समय नशे में उसके मुख्तार ने, पुलिस की शह से, न मालूम किस कागज पर हस्ताक्षर करा लिये थे।

जनरल टाउनशैंड और जनरल मौड के मित्र, कुतको हवाई जहाज से सहायता देने वाले और स्वर्गीय के० टी० पाल के परिचित हरनामदास को इस प्रकार के व्यवहार और अंग्रेज अधिकारियों की क्षणिक स्मरणशक्ति पर इतनी ग्लानि हुई कि उसने अपने कागजात, सर्टीफिकेट, पत्र और मेडल्स गंगाजी के गर्भ में अर्पित कर दिये। वह अपने पुराने वैभव को भुलाने लगा, और अति साधारण व्यक्ति की भांति उसने अपना जीवन-क्रम बना लिया।

किसी को उसकी पूर्व दशा, इतने रुपये और टाउनशैंड-दोस्ती का सहज में विश्वास नहीं हो सकता। स्वयं मुझे नहीं हुआ था; पर जब मैंने कागजात देखे और सर्टीफिकेट तथा पत्रों का अवलोकन किया, तब अपने भ्रम पर बड़ा क्षोभ हुआ। संसार में कुछ घटनाएं ऐसी होती हैं, जिनको हम अपने संकीर्ण अनुभव की कसौटी पर कसते हैं, और हर एक को अपने मानसिक क्षितिज के भीतर ही समझते हैं।

हरनामदास से मैं सन् 12 8 से भलीभांति परिचित हूं। उसके पास रुपया नहीं है; पर दिल वही है, वही उदारता है। यदि उसके पास चार-पांच रुपये हुए और उसने किसी को कष्ट में देखा, तो उसकी सहायता करने में वह कभी नहीं चूकता। सेवा करना उसका खास गुण है। साधारण-से-साधारण आदमी से वह सेकेंडों में दोस्ती कर लेता है। किसी से कुछ मांगना उसके लिए हराम है।

मैं उसके दोषों को भी जानता था। शराब, सिगरेट, अफीम, गांजा और भांग—सबकी उसे आदत थी। शराब तो बगदादी बीमारी थी। सिगरेट साधारण-सी बात हुई। अफीम दमा के रोग को दबाने के लिए खायी जाती थी। गांजा और भांग ऋषिकेश में साधुओं ने पिलाना प्रारम्भ करा दिया था। मैंने एक दिन दुखी होकर उससे कहा—"हरनामदास, ये नशे तुम्हारे नाम पर बट्टा लगाते हैं। तुम्हारे रूप के अनुरूप नहीं हैं।

इनका छोड़ना तुम्हारे लिए असम्भव जरूर है; पर क्या तुम शराब और गांजा नहीं छोड़ सकते ?" हरनामदास ने कोई उत्तर नहीं दिया। देश में शराबखोरी और अन्य मादक द्रव्यों के विरुद्ध आन्दोलन भी था। सायंकाल को हरनामदास ने सिगरेट, गांजा और अफीम की पुड़ियों को फेंक दिया, और सब नशों से तोबा कर ली । एकदम छोड़ने से उसे काफी कष्ट हुआ। मरणासन्न हो गया; पर व्रत से वह टला नहीं, और आज तक वह उस पर डटा है। किसी प्रकार उसके पास फिर से रुपया भी आ जाय, तो भी वह मदिरापान या कोई और नशा न करेगा—ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है ।

जनवरी सन् 1931 में मैं देवघर से कलकत्ता आया तो तुलापट्टी में हरनामदास को रोग-ग्रसित पाया। कलकत्ता की तुलापट्टी एक तो वैसे ही भट्टी-सी बनी रहती है, तिस पर हरनामदास ने वहां छोटी-सी दूध की एक दुकान खोली थी । बुखार जो आया, तो तीन दिन तक चारपाई पर पड़ा रहा। कोई पानी देनेवाला तक न था। हम लोग (मेरे बड़े भाई और मैं) जो आये, तो हरनामदास की तबीयत हरी हो गई। उसकी सूरत-शक्ल ऐसी हो गई थी, मानो कब्रिस्तान से उखाड़कर किसी को चारपाई पर रख दिया हो। दवा-दारू की और सिंघीवागान और चित्तरंजन एवन्यू के तिराहे पर उसको दुकान करा दी । वहां भी वह गरीबों को न भूलता था । दो-एक कंगाल को राजेन्द्र मल्लिक के यहां चाहे भोजन न मिले; पर याचना करने से हरनामदास के यहां कुछ न कुछ जरूर मिल जाता था ।

हरनामदास को हम लोगों ने समझाया—"तुम किसके लिए दुकान करते हो ? बाल-बच्चों की तुम्हें चिन्ता नहीं। अपनी जान क्यों खटाई में डालते हो ? कलकत्ता बगदाद नहीं है। यहां पर वहां की-सी ईमानदारी नहीं। दुकान छोड़ मौज करो। कलकत्ता की दुर्गन्धपूर्ण वायु का क्यों सेवन करते हो ।"

हरनामदास की समझ में यह बात आ गई, और उसने 5 मई सन् 1932 को कलकत्ता छोड़ दिया, और आजकल वह गांव में कुटिया पर है।

बिना काम के हरनामदास से रहा नहीं जाता, सो सुबह उठकर, वह खुरपी लेकर पपीतों और नींबू के पेड़ों को नराया करते हैं और मट्ठा और रोटी पर भगवान का नाम लेकर गुजारा करते हैं। वे न तो मेरे नौकर हैं, और न आश्रित, घर के एक आदमी की तरह रहते हैं। बगदादी रईस को नौकर रखने की अपनी हैसियत नहीं। हरनामदास रईस ही हैं। पैसा पास नहीं है; पर तबीयत वैसी ही शाहाना है।

हां, ईरान में हरनामदास का एक मकान भी है, और उसका किराया भी अब तक उसके चचेरे भाई के नाम आता है। उसके गांव में चचेरे भाई हैं। खूब सम्पन्न हैं। दो-चार बार बुलाने भी आये हैं; पर घर की ओर हरनामदास के पैर नहीं पड़ते। घर से दुखी होकर गया था, इसलिए घरवालों को केवल सत्तर हजार रुपये दिये थे। उसका विचार है कि अब फकीराना हालत में घर की ओर न जाया जाय।

हरनामदास की जीवन-कथा बड़ी उपदेशप्रद है। धन-सम्पत्ति के गर्व से मदान्ध लोगों को उससे शिक्षा लेनी चाहिए। मनुष्य का भाग्य पलटने में कोई देर नहीं लगती। धन और शान का घमंड वृथा है। अकबर और शाहजहां के अनेक वंशज टुकड़े-टुकड़े के लिए तरस रहे हैं।

हरनामदास की कथा स्मरण कर हृदय से एक ठंडी सांस निकलती है, और कानों में यह गूंज होने लगती है—

"जिन के तबेलों बीच कई दिन की बात है,
हरगिज न था इराकियो अरबी का बां शुमार।
अब देखता हूं मैं कि जमाने के हाथ से,
मोची से कफशपा को गठाते हैं वह उधार।"

गीली लकड़ियां

प्रातःकाल चार बजे का समय और शरद ऋतु। पर कहां की शरद ऋतु ? दक्षिण भारत की सुहावनी शरद ऋतु ? नहीं, साइबेरिया की, जहां पर मृत्यु-तुल्य शीत से लोगों के अंग-भंग हो जाते हैं और नासिका का अग्र-भाग गलकर कभी-कभी गिर पड़ता है। ऐसे ही समय में साइबेरिया के एक कैदखाने से, आजन्म निर्वासित एक कैदी, अवसर पाकर, निरीक्षकों से आंख बचाकर, बन्दीगृह से बाहर निकला।

क्यों ?

इसलिए कि उसकी धमनियों में गर्म खून था। आत्मा में बलिष्ठता थी और थी हृदय में एक आग जिसको साइबेरिया की विकट सर्दी भी न बुझा सकी थी। उसके रोम-रोम से क्रान्ति की चिनगारियां प्रस्फुटित हो रहीं थीं। बिना कुछ काम किये उसे अपना जीवन भार-सा प्रतीत होता था। कैदखाने में आजन्म रहकर—उसे मर ही तो जाना था ? इसी कारण उसे वहां का जीना हराम हो रहा था क्योंकि 'वही है मौत कि जीना हराम हो जाय।'

और कैदखाने के बाहर क्या था ?

हअर-हअर करके बर्फ का अंधड़ (Blizzard) चल रहा था। उस बन्दीगृह के चारों ओर सैकड़ों मील तक हिमाच्छादित मैदान था। उस निर्जन, श्वेत

और शीत के साम्राज्य को पक्षी तक पार नहीं कर सकते थे। हां, हिमांधड़ रूपी यम अपने असंख्य कम्पायमान शब्दों से रतजगा कर रहा था। किसी जीवधारी का यह ताव न था जो उसका मुकाबला करता। बर्फ का भालू लुका-छिपा लम्बी शीत-निद्रा (Hibernation) में लीन था। भेड़िए टोली बांध-बांधकर सैकड़ों मील दूर रोजी की तलाश में अपनी जीभें लपलपाते फिर रहे थे। बस वह कैदी ही था जो जीवन पर बाजी लगाकर बाहर निकला।

पर वह गया कहां ?

गया कहां ? उसी हिमांधड़ में वह प्रसन्नवदन चल पड़ा। वहां से एक मील की दूरी पर एक पड़ाव था जहां पर लकड़ियों का ढेर रहा करता था और गरमियों में जहां बतख के शिकार के लिए लोग आया करते थे। वह चिरान (लकड़ी चीरने का स्थान) का स्थान था।

वहां पर वह कैसे पहुंचा ?

लड़खड़ाता, गिरता, पड़ता, घुटनों तक बर्फ में फंसकर कराह-कराहकर निकलकर, आंखों और माथे से बर्फ के टुकड़े हटाता हुआ, वह व्यक्ति उस ओर को बढ़ा। अंधड़ के चपेटों से वह घबरा नहीं रहा था वरन् एक विकट दार्शनिक की भांति उस सनसनाते हुए अंधड़ से मुसकराता हुआ बातें करता जाता था। वह कहता जा रहा था कि "जब तक रूस के लेखकों की लेखनी में जहरीले साहित्य-रूपी कीड़ों के लिए बिच्छू के डंक जैसा तीखापन न होगा, जब तक उसके कार्यकर्त्ता अंधड़ की भांति अनवरत रूप से काम न करेंगे, जब तक वे असन्तोष की ज्वाला प्रज्वलित न करेंगे और जब तक उनका एक-एक वाक्य मत्सरता, पाखण्ड और विलासिता की पीठ पर हंटर का काम न करेगा तब तक रूस स्वतन्त्र न होगा। रही मेरी, सो क्या चिन्ता ? जीवन की मंजिले-मकसूद पर पहुंच गया हूं। स्वतंत्र हूं, स्वच्छन्द हूं ! इसी अंधड़ के समान इसी में लीन—तन्मय—होकर मेरी आत्मा गरीबों और पीड़ितों को आह्वान करेगी कि "प्यारे देशवासियो ! अंधड़

के समान तुम भी प्रलयंकर हो।" इस मादक भावना के सहारे वह एक मील की दूरी पर के निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचा। इतनी दूरी में शीत के प्रकोप के कारण उसका सम्पूर्ण शरीर सुन्न हो गया था। हृदय-कोष गर्म खून को पम्प करता था ! पर बाह्य शीत का प्राबल्य था। उसकी आत्मा की प्रबलता ही उसे वहां तक ला सकी थी।

वहां पर उसने सूखे तख्तों के ढेर में आग लगा दी। उसमें शीघ्र ही आग पौंड़कर चटक-चटककर जलने लगी। तापने से उसके प्राण-से लौटने लगे। अंधड़ पर बिगड़कर और रोषपूर्ण चपलता से कोयले धधकने लगे। जलती हुई आग से एक लकुटिया लेकर मुक्त कैदी ने पास की ही गीली लकड़ियों के ढेर में आग लगानी चाही; पर फुस्स करके ही लकुटिया बुझ जाती। चटकते हुए कोयलों और दो-चार जलते चहलों को उसने पास के ढेर में डाला। पर उसमें आग न लगी। हां, धुआं उठा। ऊपर की छाल भी जली पर प्रबल अग्नि नहीं धधकी।

इस दृश्य को देखकर मुक्त कैदी मुसकराया। धधकती हुई अग्नि के कोयले चटक कर विहंसे और गीली लकड़ियों के ढेर की ओर संकेत कर बोले—"हममें से बहुतों ने कोशिश कर ली कि तुम भी जलो; पर तुम नहीं जलीं। हमारे स्पर्श-सत्संग से तुम केवल सुलग-सजग हो पायीं। अबोध बालिकाओ ! तुम अभी क्या जानो कि स्नेहाग्नि से जल मरने में क्या मजा है ? तुम अभी गीली हो। हममें भी अभी इतनी शक्ति नहीं—क्योंकि हम थोड़े ही हैं—कि तुम्हें तीव्र गति से सुखा सकें या गीली ही जला सकें। हम तो बुझते ही हैं पर अपने स्नेहाग्नि-चिह्न को तुम पर छोड़े जाते हैं ! शीघ्र ही कुछ दिन बाद तुम सूखकर खड़ंक हो जाओगी और अग्नि के स्पर्श मात्र से धधकने लगोगी। हम बुझते हैं और जलने को तुम्हें छोड़ जाते हैं !!

आग बुझी। मुक्त कैदी प्रसन्नवदन उठा और अंधड़ ने उसे अपने अंक में, कुछ ही देर में, यह कहते हुए सुला लिया कि तुम्हारी जीवन-ज्योति तो बुझ गई पर तुम्हारे जलाये हुए बुझकर भी ठंडे नहीं हुए।

वरदान

गोहाटी से कुछ हटकर एक छोटा पहाड़ी गांव एक विकट नाले के दोनों ओर बसा है। बरसात के पानी ने रेत-रेतकर गांव के दो भाग कर दिए हैं। लोगों ने बड़े परिश्रम से पुश्ते लगाकर प्रकृति के आक्रमण को रोकने की सफल चेष्टा की है; नहीं तो न जाने कब का वह गांव कट-कटाकर नष्ट हो गया होता। नाले के ऊपर एक सुन्दर-सी कुटिया है, जिसकी एक खिड़की नाले की ओर है। खिड़की में होकर जब दीप-ज्योति नाले में पड़ती है, तब गांव की देवी साकार-सी बनी एक आंख से नाले को सतर्क देखती प्रतीत होती है कि कहीं छल-प्रपंच से उस गांववालों को नाला हानि न पहुंचाए।

उस कुटिया में एक तपस्विनी-सी युवती रहती थी। उसके रूप-लावण्य को अंकित करना असम्भव-सा ही है, क्योंकि वह असाधारण रूप वाली थी। उसके कपोलों की लाली, नेत्रों के तेज और मस्तक की आभा से दर्शकों के हृदय में स्वतः ही उसके प्रति श्रद्धा हो जाती थी। पर जब वह जंगल-स्थित देवी के मंदिर में प्रतिदिन पूजा को जाती, तब यही भान होता, मानो विश्व का सौन्दर्य युवती के रूप में जा रहा हो।

मंदिर में जाकर वह घंटों पूजा करती, माथा टेककर देवी की आराधना करती और रात बीतने पर एक सघन वन में प्रवेश कर एक झोंपड़ी के निकट खड़ी हो जाती। थोड़ी देर उपरान्त, कदाचित् पैरों की आहट पाकर, झोंपड़ी से एक पूर्ण युवा निकलता और दोनों प्रसन्न-चित्त रात की

नीरवता में कुछ देर घूमते और फिर वह युवती अपने गांव की ओर चली आती। गांव आते समय तारिका-मंडित रात्रि में चन्द्रमा की रश्मियां छन-छनकर पृथ्वी पर पड़े पत्तों को कुछ स्पष्ट करके युवती को देवलोक की सुन्दरी का रूप देतीं और वह गजगामिनी नपे-तुले कदमों से घर की ओर बढ़ती और दो-चार वार उसके मुंह से ये शब्द अटूट साहस के साथ निकल जाते—"इनको प्रसन्न करने के लिए मैं कौन-सी मनौती मनाऊं? कौन-सा अनुष्ठान करूं, जो मुझे यह वरें? कहते हैं, मैं आजन्म ब्रह्मचारी रहूंगा। देश की खातिर मैं किसी सुन्दरी के मोह-पाश में नहीं फंस सकता। प्रणय और गृहस्थी का चक्कर देश के सिपाही के लिए हलाहल है। उफ! पुरुष कितने कठोर होते हैं। मेरे ऊपर तरस खाकर चन्द्रमा अपने प्रकाश से पथ-प्रदर्शन करता है, पर नागेन्द्र बाबू को तरस नहीं आता। क्या मैं उनके ब्रह्मचर्य और देश-सेवा के व्रत में बाधक हो सकती हूं? कदापि नहीं। उनकी जीवन-सरिता में अपनी सहिष्णुता और ब्रह्मचर्य से मैं और भी शक्ति-दायिनी होऊंगी।"

"आज आपसे मैं कुछ स्पष्ट बातें करना चाहती हूं।"

"कीजिये।"

"मैं आपसे प्रेम करती हूं, पर कामुक दृष्टि से नहीं।"

"प्राणी मात्र से प्रेम करना चाहिए। हां, राजनैतिक क्षेत्र की बात दूसरी है।"

"मैं इस दार्शनिक दलदल में नहीं फंसना चाहती और न विवाद करना चाहती हूं। भावनाओं की शाद्वल भूमि में तर्क की शुष्कता का प्रवेश नहीं हो सकता। मैं आपसे प्रेम करती हूं, आपकी सहयोगिनी बनने के लिए।"

नागेन्द्र (गम्भीर मुद्रा से)—"रूप की खान सुन्दरी! मैं कुंवारा रह-कर ही कुछ सेवा करना चाहता हूं।"

युवती—"क्या आप मुझे कामुकता का पिंड समझते हैं?"

नागेन्द्र—"सो तो मैंने नहीं कहा। पर…"

युवती—"पर क्या? कहिए न।"

नागेन्द्र—"बात यह है कि पानी का स्वभाव है ढलाव की ओर बहना, अग्नि का स्वभाव है जलाना और इसी प्रकार स्त्री-पुरुष पति-पत्नी के रूप में—ब्रह्मचर्य व्रत से विचलित होते ही हैं। देश सम्बन्धी अपनी साधना मैं नहीं छोड़ सकता।"

युवती—"हर्गिज न छोड़िए। मैं आपको उस पथ पर और अग्रसर करूंगी। आपका हाथ बटाऊंगी। वासना के विरुद्ध युद्ध में आपकी साथिनी होऊंगी और आपके पुण्य-प्रयास में विजय-माला पहनाऊंगी।"

नागेन्द्र—"कौन जाने मेरे गले का हार सूली हो !"

युवती (कुछ व्यथित होकर)—"तो फिर आपके आदर्श के झंडे को लेकर आगे बढ़ूंगी और स्वर्ग में आकर फिर आपसे मिलूंगी।"

नागेन्द्र (युवती की आंखों से आंखें मिलाकर)—"क्या तुम्हारी साधना यहां तक पहुंच चुकी है ?"

युवती (कुछ लजाकर)—"हां, मैं देवी के मन्दिर में यही साधना करती हूं।"

नागेन्द्र (निश्चल मुद्रा से)—"तो फिर तुम्हें वचनबद्ध होना पड़ेगा—मेरी एक बात माननी पड़ेगी।"

युवती (रोमांचित होकर)—"हां, कहिए।"

नागेन्द्र—"क्या तुम मेरी एक शर्त मानने को तैयार हो ?"

युवती—"हां।"

नागेन्द्र—"मैं उसे वरदान कहता हूं।"

युवती—"आप उलटी बात कहते हैं। वरदान तो मुझे मांगना चाहिए, न कि आपको।"

नागेन्द्र—"शाब्दिक दांव-पेच से क्या लाभ ! मुझे ही मांग लेने दो। अच्छी बात है। कल रात के बारह बजे ब्रह्मपुत्र के किनारे, यहां से एक मील की दूरी पर मिलो—घाट से हटकर दक्खिन की ओर बरगद के पेड़ के निकट।"

प्रेम-विह्वल युवती अपनी मनोकामना की तरंगों पर तैरती, कल्पना के भावी मनसूबे बांधती, सुख और सुषमा का काल्पनिक प्रासाद-सा बनाती, उत्सुकता से मार्ग के रोड़ों का खयाल न करती, नियत स्थान की ओर

बढ़ी जाती थी। उसके पैरों के दबाव से पत्तियां खड़खड़ाने का शब्द करतीं। पेड़ों और झाड़ियों से अठखेलियां करता समीर उसकी साड़ी को गुदगुदा जाता और चन्द्रमा उसकी गति के साथ द्रुम-दलों में से झांक-झांक-कर देखता चलता।

बात की बात में वह निर्दिष्ट स्थान पर आ गई। ब्रह्मपुत्र के वक्षःस्थल पर चन्द्रिका की रुपहली आभा थी। तट से चालीस-पचास गज की दूरी पर एक छोटी नौका डगमगा रही थी और चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब उस नौका का चरणामृत-पान कर रहा था। घबराई-सी वह युवती खड़ी हो गई।

डांडों को रखकर नागेन्द्र ने कहा—"आ गईं!"

युवती (सहमती हुई)—"हां, पर आप तो इधर आइए, या मुझे भी ले चलिए।"

नागेन्द्र—"पर पहले वरदान तो दो।"

युवती—"इतनी दूरी से?"

नागेन्द्र—"प्रेम दूर की सीमा को नहीं मानता।"

युवती—"तो फिर कहिये।"

नागेन्द्र—"सुनो, तुम मुझे अपने पास से दूर चले जाने की आज्ञा दो।"

नागेन्द्र ने गम्भीर मुद्रा से दोनों डांड उठाए और युवती से कहा—"कहो, एवमस्तु।"

सजल नेत्रों से भर्राई आवाज में, सब जोर लगाकर, युवती ने कहा—"ए-व-म-स्तु," और शीघ्र ही डांडों के छप्प-छप्प शब्द में वह छोटी नौका कहीं दूर चली गई।

पीताम्बर

आषाढ़ का महीना था। पहली भन्न के सम्पूर्ण लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे। पछुवा का जोर रुका और पुरुवा का जीवन-स्रोत वह चला। तीतर-पांखी बदली उठ रही थी, पर गांव के किसानों के हृदयों में उमंग की हिलोर न उठी। प्रत्येक की आकृति पर वेदना की घटा छायी हुई थी। बात यह थी कि आस-पास के गांवों में पशुओं के रोग की महामारी फैल रही थी। खून के दस्त--पेट की चेचक (Rinderpest)—की बीमारी के प्रकोप के कारण हाहाकार मचा हुआ था। भाड़ में जैसे चने भुनते हैं, वैसे ही रोज दस-बीस जानवर—गाय, भैंस और बैल—चटपट मर रहे थे। अधिकांश जानवर बीमार थे। दो-चार ही अछूते बचे थे। 'घर के सौ व्यक्ति मर जाएं, पर एक कमानेवाला—सबको रोजी देनेवाला न मरे भगवान् !' की करुण ध्वनि घरों और छप्परों को पारकर मेरी कुटिया तक आ रही थी, मानो मेरी भर्त्सना की जा रही थी कि वह शिक्षा और अखबारनवीसी किस काम की, जो आड़े समय में गांववालों की एकमात्र सम्पत्ति—बैलों को बीमारी से नहीं बचा सकती।

"पंडितजी, अब कैसें गुजर होइगी। बधिया हती (थी) सो कल्लि मर गई। रुक्का (Pronote) करिकैं बधिया लई। आज भैंसि बीमार ऐ। सांझ-सबेरैं बियानहार ऐ।" कातर दृष्टि से और भर्राई आवाज में गोविंदा चमार ने कहा।

"भई, क्या करूं। कुछ समझ में नहीं आता। पशुओं की साधारण दवा-दारू मैं जानता हूं। उससे काम नहीं चलता। रहे-बचे जानवरों के टीका लगवा दिया है, पर बीमार जानवरों को कौन अच्छा करे। डॉक्टर उस दिन साफ जवाब दे गया और कह गया कि पीताम्बर से अधिक मैं नहीं जानता। सो दवा करते-करते और भाग-दौड़ करते बेचारा बीमार पड़ गया। सैकड़ों जानवरों को उसने बचाया है और अब वह स्वयं खाट गोड़ रहा है। कल ही उसके लिए मैंने दवा भेजी है" सान्त्वना देते हुए मैंने कहा।

गोविन्दा—"परि पीतू आइ सकत ऐं। कलिल मैंने चौंतरा (चबूतरा) पै बैठे देखे।"

मैं—'हां, तबीयत ठीक है, पर चल-फिर नहीं सकता। और फिर एक के यहां जाने से चारों ओर से दैया-तोबा मचैगी कि हमारे पौहे भी देखो। इसलिए मैंने कहला भेजा है कि जब तक अच्छे न हो जाओ, कहीं न जाओ।"

गोविन्दा (लम्बी सांस लेकर)—"सो तौ ठीक ऐ, परि मेरी भैंसि मरि गई तौ फिर हिल्लौ (प्रबन्ध) नाऐं। लरिका-बारे सिब बिलखि-बिलखि कैं मरि जांग्गे।"

मैं—"अच्छा, जा। कुछ करूंगा।"

"अरे भैया, बीमारी बड़ी करीं ऐ। भैंसि गाभिन ऐ। कामु तौ तौ होइ जो भैंसिऊ बचि जाय और तौय (गर्भपात) ऊ न जाय।" पीताम्बर ने गम्भीरता से कहा।

"हां, हकीम कामु तौ तबई बनै"—मैंने अनुमोदन करते हुए कहा।

पीताम्बर ने खेतों से कुछ जड़ी-बूटी उखाड़ी और दो आने की ओषधि पास के बाजार से मंगाकर दी। भैंस अच्छी हो गई और ठीक समय पर उसने बच्चा दिया। गोविन्दा का उद्धार हो गया।

पीताम्बर कुम्हार उन तपस्वी, ईमानदार, परहितकातर और परोपकारी महानुभावों में से था, जो निष्काम सेवा को मानव जीवन की भित्ति

समझते हैं। वे सेवा करते हैं किसी को दिखाने और नाम करने के लिए नहीं, वरन् इसलिए कि सेवा करना उनका स्वभाव है—कोयल की भांति, जो दूसरे के लिए नहीं, वरन् अपने लिए ही कंटकित होकर मधुर आलाप करती है।

पीताम्बर जात का कुम्हार, स्वभाव का ब्राह्मण और पेशे से किसान था। मेरा पड़ोसी—पास के गांव अंगदपुर का रहनेवाला—नैष्ठिक पीताम्बर पशु-चिकित्सा का आचार्य था। पशुओं का कोई भी रोग ऐसा न था, जिसकी अचूक ओषधि वह न जानता हो। और ओषधि भी कैसी ? दस-बीस रुपये की विलायत से सील होकर आनेवाली दवा ? तोबा कीजिए। गांव के किस आदमी में इतना बूता है, जो जानवरों की ओषधि में दस-बीस रुपये खर्च कर सके ? आदमियों के इलाज के लिए तो रुपया-दो रुपया उनके पास है ही नहीं, जानवरों के लिए इतना खर्च कहां से और कैसे करें ? पीताम्बर की कीमती से कीमती दवा का मूल्य चार आने से अधिक न होता था। साधारण-सी बीमारियों के लिए, जिनके लिए अंग्रेजी दवा की कीमत चार-चार रुपये होती, पीताम्बर की दवा का मूल्य कुछ नहीं था। कुछ नहीं के मानी यह कि वह खेतों से ही जड़ी-बूटी उखाड़कर और घर से हल्दी और फिटकरी मंगाकर अचूक दवा बना देता था।

चारों ओर बीसों मील दूर से उसके पास आदमी आते थे। बीमारी के दिनों में तो वह परेशान रहता था। घर पर परोसी थाली रखी है। उसकी स्त्री बाट जोह रही है। हाथ धोकर पीताम्बर चौके में जाना चाहता था कि घिघियाते आदमी आ गये कि पास के ही गांव में बैल बीमार है। खेत भरने को पड़े हैं। जुताई आधी रही है। बैल अच्छे न हुए तो सर्वनाश हो जायेगा।

पीताम्बर झल्ला जाता, उसकी स्त्री बड़बड़ाती कि रोटी बनी रखी है। जानवरों के इलाज की ढोलकी गले में डाल ली है। अपने यहां कोई बीमार होता है, तब कोई पूछने भी नहीं आता।

किसी प्रकार पेट में रोटी डाल पीताम्बर पास के गांव में दवा देने जाता।

पीताम्बर सफल किसान था। दिन-रात चींटी की भांति लगा रहता और जब लोग अपने पशुओं को दिखाने के लिए पीताम्बर को बुलाने आते, तब वह आगन्तुकों में से किसी को अपने स्थान में काम करने छोड़ देता और पशुओं की चिकित्सा करने चला जाता।

नंगे पैर, मैले-कुचैले कपड़े पहने इन सीधे-सादे देहाती को देखकर कोई यह नहीं कह सकता था कि वह अपने विषय का आचार्य होगा—असाधारण आचार्य। हजारों पशुओं का उसने इलाज किया—दो-एक हजार का नहीं, दसों हजार का, और जितने पशुओं पर उसने हाथ डाला, उनमें से आठ ही मरे थे!

बात यह थी कि उसके हाथ में यश था। यश की बात को वैज्ञानिक न मानें, पर जो पावन भावनाओं में विश्वास रखते हैं और जिनका खयाल है कि प्रेम की चितवन, मां के आशीर्वाद और विरह की तड़पन से हृदय पर आघात होता है, वे समझ सकते हैं कि ओषधि देते समय पवित्र हृदय से निकले आशीर्वाद के भी कुछ मानी होते हैं। ऐसा व्यक्ति दवा देते समय प्रभु से प्रार्थना करता है कि भगवन्, आपकी बनाई ओषधि को मैं आपके ही बनाये जीव को दे रहा हूं। मैं तो कोई चीज नहीं, आपकी अनुकम्पा से रोगी अच्छा होगा और मुझे भी बार-बार न दौड़ना पड़ेगा—ऐसी ही भावना से पीताम्बर ओषधि देता था।

ऐसे सफल चिकित्सक की आमदनी क्या होगी? प्रति पशु यदि वह चार आना भी फीस लेता, तो वह दस-बीस हजार कमा लेता, पर पीताम्बर बड़प्पन की कसौटी रुपया न मानता था। उसका दृढ़ विश्वास था कि हिन्दुओं के पुराने आदर्श के अनुसार ओषधि करने के लिए कुछ लेना घोर पाप, जघन्य व्यभिचार है। शिक्षा, आयुर्वेद और संगीत स्वार्थ के लिए नहीं, वरन् परमार्थ के लिए हैं। किसी का भला करके कुछ लेना वह पाप समझता था। जिसके यहां इलाज को जाता, खाना तो दूर, पानी तक न पीता। दो-चार बार पूछे जाने पर कि हकीम फीस क्यों नहीं लेते? हकीम पीताम्बर बाल-स्वभाव सदृश सरलता से उत्तर देता, 'पंडितजी, कुछ लेने से ओषधि का असर न रहेगा और मेरे गुरु की आत्मा को कष्ट होगा।"

हकीम पीताम्बर की इन सरल बातों की फिलासफी कितनी गूढ़ है। उसके मत से संग्रह करने की—गरीबों से फीस लेकर संग्रह करने की—लालसा भयंकर, दूषित और पापमयी थी, और दूसरों की निःस्वार्थ सेवा धर्म का परम पद था। नाम की उसे चाह न थी। हकीम पीताम्बर की आकृति तो मानो कहती थी—

मुझ-सा कोई गुमनाम जमाने में न होगा,
गुम हो वह नगीं जिस पै खुदे नाम हमारा।"

दो-चार बार बुलाकर मैंने उसकी निष्काम सेवा की प्रशंसा की, तो वह मुसकराकर कहने लगा कि इसमें कौन-सी तारीफ की बात है। दूसरों को दवा देना तो ठीक वैसा ही है, जैसे कोई अपने पेट भरने के लिए रोटी खा ले। दवा देने से अपनी आत्मा को सन्तोष मिलता है।

कई बार कोशिश की कि कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति वर्ष-दो वर्ष साथ रहकर हकीम पीताम्बर से उस विद्या को सीख ले, पर कोई व्यक्ति नहीं मिला। एक दिन मैंने ही दीक्षा लेनी चाही और उसकी ओषधियों, जड़ी-बूटियों और रोगों के नाम लिखने की ठानी; पर पीताम्बर स्वयं सब जड़ी-बूटियों के नाम नहीं जानता था। उन्हें पहचानता भर था। उसके गुरु एक साधू ने उसे पशु-चिकित्सा सिखाई थी और जड़ी-बूटियों को पहचनवा दिया था। इस कठिनाई के कारण हकीम पीताम्बर से मैं कुछ न लिखा सका। दो-चार बार उसके फोटो लेने का भी प्रबन्ध किया, पर कोई फोटोग्राफर न मिला।

अभी उस दिन अपने नये रोलेफ्लेक्स कैमरे के आने पर हकीम पीताम्बर को मैंने बुलाया और फोटो लिया, तथा उसकी मुलाकात अपने एक साहित्यिक मित्र से करायी। यह बात गत २७ जनवरी, सन् १९३४ की है।

गत पहली मार्च को कलकत्ता से लौटकर शिकोहाबाद स्टेशन पर पहुंचा और गांव के लिए इक्का किया। अपने आदमी से मार्ग में मालूम हुआ कि हकीम पीताम्बर की तबीयत बहुत खराब है। इक्का लेकर सीधा

हकीम पीताम्बर के यहां पहुंचा—रास्ता ही अंगदपुर में होकर था। मुझे देखकर पीताम्बर के मुरझाये चेहरे पर उल्लास की रेखाएं अंकित हो गईं। उसकी आंखें कहती थीं कि बीमारी में उसका भी कोई धनी धोरी है। कितनी खाम-खयाली थी हकीम की ! सैंकड़ों बार अपने और दूसरों के पशुओं के लिए मैंने हकीम पीताम्बर को मौके-बेमौके बुलाया था। सान्त्वना देकर मैंने कहा—"हकीम, घबराओ नहीं। आज तो रात है। कल ही तुम्हारे लिए फिरोजाबाद से डॉक्टर जीवारामजी को बुला दूंगा।"

"बस, अबके बचा लो, पंडितजी !" अवरुद्ध कंठ से पीताम्बर ने कहा। आंसुओं को रोकते हुए और ध्यान बंटाने के लिए मैंने पीताम्बर को उसका फोटो निकालकर दिया। देखकर वह प्रसन्न हो गया। घर आकर मैंने 'नक्स वोमिका' (Nux vomica 6x) की दो खुराकें भेजीं और डॉक्टर जीवाराम को पत्र लिखा।

अगले दिन प्रातःकाल ही नौकरी पर जाना था—हाजिरी थी। पर मन में मैं लज्जित था कि नौकरी की खातिर हकीम पीताम्बर को छोड़कर मैं क्यों जा रहा था ! स्वार्थ और अशिष्टता के अतिरिक्त और क्या कहा जाय ?

तीन दिन बाद मालूम हुआ कि हकीम पीताम्बर मेरी दवा के खाने के बाद ही बैलगाड़ी में लेटकर आधी रात के समय फिरोजाबाद गया। पेट में भयंकर पीड़ा थी। १०४ डिग्री का ज्वर था। जाड़ा था और तेज हवा चल रही थी। जीवारामजी ने एनीमा से दस्त कराया। पीताम्बर को कुछ चैन मिला। घर को लौट आया, और अगले दिन उसकी बीमारी अंतड़ियों में रोक (Intestinal obstruction) ने इतना जोर पकड़ा कि हकीम चल बसा। उस बेचारे का ठीक इलाज भी न हो पाया !

आज हकीम पीताम्बर नहीं है। और उसके साथ उसकी अनुपम विद्या भी चली गई। अखबारी दुनिया के आदमी उसे नहीं जानते, और वे डॉक्टर उसे क्या समझ सकते हैं, जो रोगी को मुफ्त ओषधि देकर उससे वोट लेने के इच्छुक होते हैं और उससे वोट न मिलने पर अपनी करनी का उलाहना देते हैं; पर हकीम पीताम्बर बहुत बड़ा आदमी था—कोरे धुआंधार और

मेजतोड़ भाषण देने वाले अनेक कार्यकर्त्ताओं से बहुत ऊंचा। उसकी चरण-रज से वे अपनी आत्मा को उन्नत कर सकते थे।

हकीम पीताम्बर पर मुझे नाज था। इंग्लैंड और अमेरिका के मित्रों से मैं उसका परिचय कराकर कहता था कि मेरे गांव के आस-पास सरकार पशुओं के लिए कुछ न करे। हमारा हकीम बरकरार चाहिए। ग्राम-सेवा में मैं उसे अपने-से बढ़कर मानता था। उस पर मुझे भरोसा था। ग्रामसेवा के वृहत् काम में हकीम पीताम्बर पर बड़ी-बड़ी आशाएं बांध रखी थीं। बड़े-बड़े मनसूबे बांधे थे; पर क्या किया जाय।

"हमने जो कोई शाख चुनी शाख जल गई।"

वसीयत

यों तो समाचार-पत्र पढ़ना साधारण-सी बात है; पर पत्रकार के लिए एक नहीं, अनेक समाचार-पत्रों का पढ़ना, उतना ही आवश्यक है जितना कि गोलन्दाज के लिए गोले और बारूद अथवा मोटर के लिए पेट्रोल। एक दिन डाकखाने से दूरवर्ती एक गांव में बैठा एक समाचार-पत्र की प्रतीक्षा में मैं बेचैन हो रहा था। देशव्यापी आन्दोलन की गतिविधि पर अधूरा लेख लिखा रखा था और उसे तीसरे ही दिन समाचार-पत्र के कार्यालय में पहुंच जाना चाहिए था। जिस पत्र की प्रतीक्षा में था उसके बिना लेख का शेषांश पूरा नहीं हो सकता था। डाक लानेवाले को दूर से देखते ही नंगे पैर उसकी ओर लपका।

उसके हाथ से डाक का पुलिन्दा छीनकर तर्जनी से उस समाचार-पत्र के रैपर को फाड़ डाला। उस आन्दोलन सम्बन्धी समाचार के लिए मेरी फैली हुई आंखें जैसे ही प्रथम पृष्ठ पर पड़ीं, वैसे ही प्रथम समाचार से—आन्दोलन सम्बन्धी समाचार से नहीं—हृदय में आघात हुआ, कलेजे पर छुरी-सी फिर गई और एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर मैं घबराकर रुक गया, ठीक उस भुक्खड़ की भांति जो पेट की अग्नि बुझाने के लिए समूची रोटी को एक ही ग्रास में निगलने का प्रयास करे, परन्तु रोटी में छिपी पैनी कील के मसूढ़ों में घुस जाने से आह करके मुंह खोले-का-खोले ही रह जाय।

वह समाचार था मेरे मित्र के छोटे भाई के निधन का। एक सप्ताह पूर्व ही मैं उनसे मिलकर आया था। उन्होंने एक दिन और ठहरने का आग्रह

किया था—चारपाई पर पड़े हुए कातर दृष्टि से देखते हुए। और मेरे चले आने के बारह घंटे के उपरान्त ही उनका देहावसान हो गया। रह-रहकर मुझे अपने मित्र के रोगी भाई की वह कातर दृष्टि स्मरण हो आती थी, उस चितवन का चित्र सामने खिंच जाता था और मैं अपनी मूर्खता पर पछता रहा था कि यदि मैं अपने अस्त-व्यस्त जीवन के बारह घंटे उस रोगी के निकट बिता देता, तो मेरी तो कुछ हानि न होती; पर रोगी को न जाने कितनी सान्त्वना मिलती; उस निस्तेज शरीर में लगे याचनायुक्त स्नेह-दीपकद्वय की ज्योति को मेरे प्रस्थान के समय अधिक परिश्रम से तो न टिमटिमाना पड़ता। रह जाने से न मालूम वे क्या इच्छा—अन्तिम इच्छा—प्रकट करते? घर पर उनके भाई—मेरे मित्र—भी न थे, इसलिए मेरी वेदना और भी तीव्र हो गई थी।

पांच दिन बाद—तेरहवीं के दिन—मातमपुरसी के लिए अपने मित्र के गांव की ओर चल पड़ा और रास्ते-भर यह सोचता आया कि अपने दुखी मित्र को किस प्रकार सान्त्वना दी जाय। वह बच्चे तो थे नहीं, जो इधर-उधर की बातों में आ सकें और फिर आत्मा की अमरता और संसार के जीवन-मरण के प्रश्न को भी वे खूब समझते थे। मैं यह भी समझता था कि भाई के निधन ने उनके कोमल हृदय में गहरा घाव किया होगा जिसकी मरहम-पट्टी कोरे शब्दों से नहीं हो सकती। सोचते-सोचते मैं इस नतीजे पर आया कि भावुकता से उनके दुखी हृदय को तसल्ली दूंगा। गरमी से व्याकुल व्यक्ति को जैसे पंखा झलने से चैन पड़ता है, वैसे ही गीता और उपनिषद् के शब्दों से उन्हें सान्त्वना देने का प्रयत्न करूंगा। दुःख हृदय में शून्य (Vacuum) पैदा कर देता है और वह प्राणग्राही चर्चा से भरा जा सकता है। मन को दुःख के केन्द्र-बिन्दु से हटाने से दुखी प्राणी का भार कुछ कम हो जाता है—तबीयत में कुछ हलकापन मालूम होता है। यदि किसी प्रकार मेरी इन बातों का पूरा असर न हुआ, तो कहूंगा कि भाई की मौत पर शोक करना फिजूल है। गान्धारी ने तो अपने एक शत पुत्रों के वध का शोक सहा। अभिमन्यु की मौत से पाण्डव कर्तव्यच्युत नहीं हुए, तब हमारी गिनती किन में है? बस, तर्क के ऐसे अस्त्रों से सुसज्जित मैं मातमपुरसी

के लिए गया; पर कभी-कभी मुझे अपनी बातों में उपदेशकपन की गन्ध आती थी।

एक कायर की भांति जो केवल साहस की बातें ही करता है; पर हृदय से डरता है, मैं अपने मित्र की कुटिया पर पहुंचा। देखा तो मेरे मित्र पत्र लिखने में व्यस्त थे। मुझे देखकर उन्होंने बड़ी आतुरता से अपने कागज-पत्र समेट लिये और गम्भीर आकृति और शिकन पड़े माथे को ऊपर करके मेरी ओर देखा। मेरी आंखें जो उन पर पड़ीं तो मैंने उनकी कुछ विचित्र मुखाकृति देखी। उनके भरे हुए कपोल, सुर्ख आंखें और काली बड़ी-बड़ी मूंछों और आकर्षक चेहरे के स्थान में घुटे हुए सिर, विषाद और चिन्ता-युक्त आकृति, निस्तेज कपोल और नीरस आंखों के चारों ओर काले घेरों को देखकर मैं सहम गया। ऐसा मालूम हुआ मानो उनकी आकृति पर शोक मूर्तिमान होकर डेरा डाले पड़ा हो।

"आओ भाई, बैठो। खूब आये"—कहकर उन्होंने मेरा स्वागत किया।

"क्या आया ? कुटिया में आने को पैर ही नहीं पड़ते थे। अनजान आदमी को यह थोड़े मालूम पड़ेगा कि···का स्वर्गवास हो गया है।" मैंने सम्हलकर कहा।

मित्र (सांस खींचकर और विषादसूचक आकृति से)—"अरे भाई, मुझ पर इन दिनों जो बीती है, वह वर्णनातीत है। इन दिनों ऐसा कोई नहीं आया जिससे दिल खोलकर बातें करता।"

मैं—"आस-पास के सैकड़ों लोग तो आपके परिचित हैं ?"

मित्र—"हां, हैं, और दस-दस और बीस-बीस की टोली में मातमपुरसी के लिए वे आए भी; पर उनमें से अधिकांश स्वर्गीय भाई के निजी मित्र थे। वे यदि मेरी मृत्यु पर उसके पास आते तो उसे सान्त्वना मिलती। मैं खूब रोया हूं—इतना—सो भी अकेले में, स्त्री के समान सिसकियां भरकर—कि अश्रुकोष समाप्त हो चुका है। विसूचिका की अन्तिम दशा में जैसे सूखी उबकाईं आती हैं और कभी-कभी कुछ निकल भी जाता है, उसी तरह शोक-स्मरण-अग्नि से सन्तप्त हृदय रुधिर की दो-चार बूंदों को आंसुओं के रूप में ढरका देता है।"

मैं—"सो तो ठीक है, पर इस प्रकार के शोक से आप अपने स्वास्थ्य का नाश कर लेंगे।"

मित्र—"मैं जानता हूं कि शोक करना वृथा है। इन दिनों गीता और उपनिषदों के पारायण भी किए; पर न जाने हृदय में क्यों हूक उठती है। स्मरण मात्र से पुरानी स्मृतियां ताजी हो जाती हैं। बाल्यकाल की सुखद स्मृतियां साकार होकर हाथ बढ़ाती हुई आलिंगन को आती हैं—प्रेममयी और उल्लासपूर्ण स्मृतियां। और उनके सामने छोटे भाई की मुसकराती, हंसती और रूठी सूरत रह-रहकर बातें करने और खेलने आती है। वह खेतों का दौड़ना, आमों के पेड़ों का चढ़ना, कबड्डी खेलना और चीजों के लिए मचलना—आह, प्रत्येक घटना की आत्मा आह्वान करती है···"
कहते-कहते मेरे मित्र के कपोलों पर वेदना छा गई। हृदय में बवंडर-सा उठा और आंखों से बरबस आंसू निकलकर कपोलों से होते हुए मोती के आकार में पृथ्वी पर टपक पड़े। पृथ्वी से वे फेंके न गये और उसने उन्हें शीघ्र अपने गर्भ में रख लिया।

मैंने अपने आंसुओं को रोकते हुए कहा—"यह सब ठीक है; पर आपको धैर्य से काम लेना चाहिए।"

मित्र ने आंसुओं को रूमाल से पोंछते हुए और अवरुद्ध कण्ठ से उत्तर दिया—"यह मैं सब कुछ जानता हूं। जले में तो आग पड़ती ही है। अब क्या रोऊंगा? बहुत रो लिया। बड़े भाई भी नहीं आये। कई रात इस कुटिया के चारों ओर अकेला पागल की भांति घूमता रहा हूं और रोया हूं।

"मैंने अपने इन्हीं क्रूर हाथों से पिता, एक बहन और माता को चिता पर भस्म होने को रखा है। रोया भी था। कुटुम्बी, परिचित, अपरिचित और कई प्रिय मित्रों को भी मेरी इन्हीं आंखों ने पार्थिव शरीर से विदा होते देखा है; पर छोटे भाई के देहावसान से मुझे जो क्लेश हुआ है, मेरी आत्मा को जो धक्का लगा है, वह दूसरे ही प्रकार का है। इन दिनों मेरे ऊपर दुधारी तलवार चली है। और···"

मै (बात काटकर)—"ठीक है; पर जो होना होता है, वही होता है। आपके घाव की मरहमपट्टी गीता और उपनिषद् से न हुई तो कोई कुछ

नहीं कर सकता। पर भाई, कभी-न-कभी इस शरीर को छोड़कर सबको महायात्रा करनी है।"

मित्र (कुछ अन्यमनस्क होकर)—"भई, मैं यह नहीं कहता कि मेरा यह दुःख ऐसा है जो विश्व को डुबा देगा। मेरे छोटे भाई का निधन कोई राष्ट्रीय विपत्ति नहीं है। मेरे लिए और आस-पास के गांववालों के लिए उसका उठ जाना एक भारी क्षति है। रही भूलने की बात, सो मैं जानता हूं कि संसार की प्रगति ही ऐसी है। पानी में जब चोट लगती है, तब वह हट जाता है और फिर वहीं आ जाता है। मानवी चोट में सिकुड़ने की वह शक्ति न सही; पर विस्मृति जीवन की एक आवश्यक चीज है। मुझे दुःख है, क्योंकि कौटुम्बिक जीवन की विकरालताओं पर वहीं इस गृहस्थी की नाव खे रहा था। मैं खूब जानता हूं कि घर के सब काम होंगे। मेरे मरने के बाद भी दुनिया चलेगी; पर मेरे शोक की गुरुता का एक और कारण है। सांकेतिक रूप से भी आप उसे नहीं समझे।"

मैं (विस्मय से)—"वह क्या? शायद यह कि आपको या आपके बड़े भाईसाहब को घर पर रहना पड़ेगा।"

मित्र—"आप भी क्या कहते हैं! घर और बाहर रहने की कौन-सी बात है? ऐसा तो करना ही पड़ेगा। जीवन का तारतम्य इस प्रकार लगा ही रहेगा। मेरा तात्पर्य यह है कि मुझे इन दिनों दो वेदनाएं सहनी पड़ीं। तनिक विचार कीजिये कि किसी आदमी के दिल में आप बरछी भी भोंकें, और ऊपर से गरम तेल भी छिड़कें। चाहिए तो यह कि शोकाकुल प्राणी को धैर्य बंधाया जाय। कोई धार्मिक चर्चा की जाय। दिल को थमानेवाले पत्र लिखे जाएं, न कि उसका विरोध किया जाय और व्यंग्य कसे जाएं।"

मैं—"मेरी समझ में बात नहीं आयी।"

मित्र—"आज छोटे भाई की तेरहवीं का दिन है। आप देख रहे हैं कि मैंने मृतक-भोज नहीं किया।"

मैं—"ओह, अब मैं समझा। शुद्धि और मृतक-भोज करने के लिए लोगों ने जोर दिया होगा और आपने कुछ न किया होगा।"

मित्र—"किया क्यों नहीं? पौराणिक पद्धति के अनुसार मैंने सब कुछ किया है—इसलिए नहीं कि वह वहां पहुंचता है। संसार के सब काम

पहुंचने और न पहुंचने की भावना पर नहीं होते। जो कार्य केवल पहुंचने की कसौटी पर किया जाता है, वह निकृष्ट भौतिकवाद है। सूर्य को दीपक दिखाने से सूर्य की अपार प्रकाश-शक्ति में कुछ वृद्धि थोड़े ही होती है। मानव जीवन की भित्ति भावनाओं, भक्ति, श्रद्धा और आत्मतुष्टि पर है। इसलिए अपने भक्ति-प्रदर्शन के लिए मैंने अपने भाई के कर्म किये। पिंड दिये। जिस समय कर्म-पद्धति में भाई की आत्मा—प्रेतात्मा—की तुष्टि के लिए धूप, दीप, उसीर, चन्दन और दूध देने की आज्ञा पाता था, तब मेरा शरीर रोमांचित हो जाता था। हृदय में ज्वार-सा उठता था। मैं मन-ही-मन कहता—'भगवन्, अपने छोटे भाई के लिए अपना शरीर भी दे सकता हूं। मेरी इस भक्ति से, इन पुनीत भावनाओं से उसे सुख मिले।' हृदय में विषाद भी उत्पन्न होता था कि संसार की क्या प्रवंचना है कि बड़ा भाई छोटे भाई का श्राद्ध करता है। जो पीछे आया था, वह पहले चला गया।

"मैंने कर्म-पद्धति के अनुसार सब किया है। पद्धति में मैंने पढ़ा भी है; पर हिन्दू-समाज की रूढ़ियां विदेशी शासन से कम कठोर नहीं हैं। और···"

मैंने बात काटकर और अपने मित्र के हृदय की हिलोर और उनकी तन्मयता को रोकते हुए कहा—"तो आज तेरहवीं को कुछ दान-पुण्य भी नहीं किया गया ?"

मित्र ने अपनी तेजस्वी आंखों से घूरते हुए कहा—"दान-पुण्य से आपका तात्पर्य क्या वही है, जो लोग मुझे बताते थे ? मैंने गरीबों में ओषधि बांटने के लिए अपनी श्रद्धा और शक्ति भर उसी के नाम से सौ रुपये दान कर दिये हैं। हां, किसी को कुछ खिलाया नहीं।"

मैं—"और शुद्धि के दिन क्या किया ?"

मित्र—"शुद्धि के दिन हजामत बना ली। कुटुम्बी लोगों ने भी हजामत बनवाई, पर मैंने लोगों को भोजन नहीं कराया। गांवों में रीति यह है कि यदि कोई मर जाता है, तो शुद्धि के दिन कच्चा खाना बनता है। कढ़ी बनती है और इसलिए 'तेरी कढ़ी खाऊं' गाली के मानी हैं शुद्धि के दिन की कढ़ी खाना। मैंने केवल यह किया कि सब चीजें बनवा लीं और कुटुम्ब के

सबसे बूढ़े आदमी और कुटुम्ब के एक भाई को, जिससे खास भाई का-सा व्यवहार है, लेकर घर जाकर बैठ गया—उफ्! अपने छोटे भाई की कढ़ी खाने को! सामने सब चीजें परोसी गईं, तब ग्रास ही न टूटता था। छोटे भाई की मूर्ति सामने आकर कहती मालूम हुई—'छोटे दद्दू, कढ़ी तो चखो!' संसार की बातों को निभाना ही है; पर जैसे ही ग्रास दांतों से पकड़ा वैसे ही कलेजा मुंह को आने लगा। एक हूक-सी उठी और ग्रास भीतर को न गया। भाई के प्रति प्रेम ने भीतर से जोर लगाया और ग्रास को गले के नीचे न उतरने दिया। घबराकर, मुंह का मार्ग रुद्ध पाकर, हृदय तरल होकर आंखों से बरसने लगा। हृदय कहता था कि दांत पहले ग्रास के बजाय मुझे चावें। अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दुःख से मैं आपे में न था। बस, जीभ से सब चीजें चख लीं। आंसुओं की झड़ी देखकर और दो साथियों ने भी रस्म अदा कर ली। पेट भरने वे भी न आये थे।"

मैं—"और लोग भी चखने में शामिल हो जाते, तो क्या हर्ज था?"

मित्र—"आपको इन बातों का व्यावहारिक ज्ञान नहीं है। अपने कुटुम्ब में मैंने देखा है कि जवान की शुद्धि में बहुत से लोगों ने चार-चार, पांच-पांच बार मांगकर पेट भरकर खाना खाया था—दावत समझकर! इन शुद्धियों में मैं भी शामिल हुआ हूं; पर मुझसे तो एक ग्रास भी नहीं खाया जाता। अपने भाई की मृत्यु पर शुद्धि में न स्वयं खाया जाता था और न खिलाया ही जाता था।"

मैं—"तब फिर क्या ये बातें फिजूल ही हैं और यों ही बनी थीं?"

मित्र—"मैंने तो यह नहीं कहा कि वर्तमान रीति-रस्म का आधार न था। मैं तो यह कहता हूं कि हिन्दुओं की सब रीति-रस्मों का आधार मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक था। देश और काल के अनुसार मनीषियों ने ये सब बातें प्रचलित की थीं और ठीक ही थीं; पर अब केवल रूढ़ियों का ही पालन होता है। उदाहरण के लिए इस शुद्धि को ही लीजिये। यदि कोई कुटुम्बी मरता था तो शोक और विषाद के कारण और दिवंगत आत्मा के प्रति भक्ति प्रकट करने के लिए कोई भी आमोद-प्रमोद, शृंगार और बढ़िया भोजन नहीं करता था और जब तक मृतक के घरवालों के यहां पूरी-कचौड़ी तथा अन्य पदार्थ न बन जाते थे—कड़ाही नहीं चढ़ जाती थी—

तब तक कुटुम्ब के किसी और के यहां भी कोई चीजें नहीं बनती थीं। शुद्धि के दिन हजामत बनाकर कच्चा-पक्का सामान बनता था और जब मृतक के खास सम्बन्धी खा लेते थे, तब उसके बाद औरों के यहां विशेष भोजन बना करता था। एक डिसिप्लिन की बात थी।

"दान-पुण्य की बात भी सोलहों आना ठीक है। जिसके पास रुपया है, उसे मृतक की स्मृति में उचित व्यय करना चाहिए; पर जिसके पास कुछ नहीं है उसे कर्ज लेकर लकीर नहीं पीटनी चाहिए। रूढ़ियों के निभाने में समाज और जनता के दिखावे के लिए और अपनी वाहवाही के लिए लोग ऋण लेकर कर्मकाण्ड और मृतक-भोज में खर्च करते हैं; और जो नहीं करते, वे हेच समझे जाते हैं। कर्मकाण्ड और इन सब बातों का कोई विधान नहीं, और जिनका है उनको गरीब और अमीर सभी निभा सकते हैं।

"रही धर्म की, सो धर्म के अनेक वर्तमान रूप दूषित पूंजीवाद के विकृत रूप हैं। धर्म गरीब और अमीर दोनों के लिए एक-सा है। धर्म का आधार है सचाई और कर्तव्य-परायणता—सो वे किसी वर्ग-विशेष की बपौती नहीं।"

मैं—"आपको दिक कैसे किया गया?"

मित्र—"कुछ न पूछो, भाई! नौकरशाही का सामना करना बड़ा सरल है; पर सामाजिक रूढ़ियों के पाश को तोड़ना बड़ा दुस्तर है। जब मैंने धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों की उपेक्षा की तब पहले तो बड़े-बूढ़ों का डेपूटेशन आया कि कुल की रीति और पुरखों के नाम पर 'कारज' होना चाहिए। मेरे इनकार करने पर और पौराणिक पद्धति का हवाला देने पर करुण रस से काम लिया गया। मैंने स्त्रियों को कहते सुना, 'मैंने स्वप्न में देखा है कि···भूखे हैं। हाय, उनके बाल-बच्चे होते तो क्या उनका कारज नहीं होता!' इन बातों से मेरे हृदय पर आघात लगता था, क्योंकि मैं जानता था कि स्वर्गीय भाई का घनिष्ठ प्रेम मुझसे ही था और मुझसे अधिक उसका हित और कोई नहीं चाह सकता। इसके बाद व्यंग्य-बाण बरसाये गये। कहा गया कि चाहे सौ-दो सौ हमारे पास से खर्च हो जाएं; पर 'कारज' होगा। अर्थात् इस प्रकार मेरी गरीबी का उपहास किया गया। उस समय मेरी दशा उस स्त्री की-सी थी, जिसे अपने पति की लाश

की रक्षा के लिए मनुष्य-भक्षी प्राणियों से लड़ना पड़ता है। दग्ध हृदय में रोष का अन्धड़ उठता था और मेरी तबीयत कहने लगती कि विधि की कैसी विडम्बना है ? कुटुम्बियों का कैसा व्यवहार है ? 'जफर' ने ठीक ही कहा है—

'न कोई किसी का रफीक है, न किसी का यां कोई यार है।'

सभी को यही आशंका थी कि रूढ़ियों के न निभाने से मैं कुटुम्ब के ऊपर अनिष्ट की आंधी ला रहा हूं।"

मैं—"मुझसे तो भई, इतने विरोध का सामना न किया जाता। आपको बहुत बुरा लगा होगा।"

मित्र—"मैं भयंकर सामना करने को तैयार हूं। चाहे टुकड़े-टुकड़े उड़ जाएं, बात की खातिर तोप के मुंह में जाने को तैयार हूं; पर सामाजिक और कौटुम्बिक जीवन की रूढ़ियां घास में छिपे काले सांप के समान हैं—तोप से अधिक भयंकर।

"रही बुरे लगने की बात, सो पहले तो ज्ञान शून्य-सा हो गया—उस व्यक्ति के समान, जिसके पैरों के नीचे से सूली का तख्ता खिंचने ही वाला हो; पर बाद को बहुत सोचने के बाद इस नतीजे पर आया कि राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों के तोड़ने का ही नाम जीवन है। खुराफात के विरोध में मर-मिटना ही जीवन है और उसी में जीवन का स्वाद है। भोग-विलास तो हमारे वर्तमान जीवन में कोढ़ है—पका फोड़ा है जिसे काटकर फेंक देना चाहिए। फिर मेरी हस्ती ही क्या है ? ज़गद्गुरु श्री आदि शंकराचार्य के गांववालों ने---उनमें कुटुम्बी भी होंगे---उनकी मृतक माता के शरीर को उठवाने में सहायता तक न दी, और शंकराचार्य को अपनी माता के शव के टुकड़े करने पड़े। तनिक खयाल कीजिये, माता के शव को काटने के लिए उन्हें इसलिए बाध्य होना पड़ा ताकि वे उसको उठाकर श्मशान ले जा सकें—दाह-संस्कार के लिए !

"इस दृष्टि से मैं और मेरा स्वर्गीय भाई बड़े भाग्यशाली हैं। मेरे पीछे बीसों आदमी उसे गंगाजी पर दाह के लिए ले गये। मेरे कुटुम्ब में आज तक किसी का दाह गंगा-तट पर नहीं हुआ।"

मैं—"मुझसे तो अब ये बातें अधिक नहीं सुनी जातीं; पर यह बताइये

कि इन रूढ़ियों—सामाजिक तम—को कैसे दूर किया जाय ?"

मित्र ने गम्भीरता से कहा—"कैसे दूर किया जाय ? इसके लिए कोई बाजारू नुस्खा तो है नहीं, सत्य पथ पर शेर की भांति बढ़िये। समाज को —दूसरों को—उपदेश देने की अपेक्षा स्वयं अपना जीवन अमली बनाइए। मैं क्या कहूं ! वेदान्त के अनुयायी पहले अपनी आध्यात्मिक उन्नति करते हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपने सुधार का भरसक प्रयत्न करे।"

मैं—"अपनी ओर से क्या भरसक प्रयत्न करे ? मान लीजिये, मेरी माता की इच्छा है कि उनके देहावसान के उपरान्त 'कारज' कर्म और पिण्ड हों, तो उनकी अन्तिम इच्छा की क्यों अवहेलना की जाय ?"

मित्र—"कदापि नहीं। उसे शक्तिभर अक्षरशः पूरा कीजिये। हम लोगों ने भी अपनी माता का मृतक-भोज किया था। कर्म और पिण्ड सब कुछ किये; पर छोटे भाई की ऐसी कोई इच्छा न थी। सब कुछ मेरे ही ऊपर था सो मैंने अत्यन्त श्रद्धा से पौराणिक रीति से सब काम किया।"

मैं—"अच्छा तो आपका तात्पर्य यह है कि अपने लिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा छोड़ जाय ?"

मित्र—"हां। और मुझे आशा है कि ऐसा होने पर उसके मित्र और सम्बन्धी उसकी इच्छा पूरी करेंगे।"

मैं—"हां, करना तो चाहिए।"

अगले दिन अपने मित्र के यहां से चलने लगा तो उन्होंने एक बन्द लिफाफा देते हुए कहा—"इस पत्र को डाक से डालने वाला था। अब मैं इसकी डिलेवरी अपने हाथ से करता हूं। डाक में कहीं गड़बड़ ही हो जाय।"

आश्चर्य से मैंने कहा——"मुझे पत्र देने की क्या जरूरत है ? जो बात हो कह न दीजिये ? और ऐसी बात हो ही क्या सकती है। लाइये अभी पढ़ लूं।"

मित्र ने चिन्तापूर्ण गाम्भीर्य से कहा—"नहीं। अभी पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। घर पर पढ़ लेना। यदि जबानी कहने की बात होती, तो कह दी जाती।"

मैं—"पर आप तो इन बातों से मेरे कौतूहल और चिन्ता को उग्र

कर रहे हैं। आप बच्चे थोड़े ही हैं। जैसे यहां पढ़ा, वैसे ही घर पर।"

वहां से हटते हुए वे बोले—"अच्छा नहीं मानते, तो पढ़ लो।"

पत्र खोलकर पढ़ा तो मुझे कोई आश्चर्य न हुआ। उनकी मनोवृत्ति का पता तो मुझे था ही, और उनकी योजना का आभास उनके हृदयग्राही वार्तालाप से हो गया था। पत्र में लिखा था—

"इस पत्र को मैं किसी आवेश में नहीं, वरन् स्वस्थ और शान्त मन से लिख रहा हूं। अभी जवानी है और वह शायद आगामी बीस वर्ष तक और रहे; पर मैं मौत के नगाड़ों की धीमी ध्वनि ठीक उसी भांति सुन रहा हूं, जैसे वेगवती सरिता की धारा मचलती और अठखेलियां खेलती यह महसूस करती है कि वह प्रतिक्षण समुद्र की ओर को बढ़ रही है, जहां पर उसकी अन्तिम समाधि बनेगी।

"मैं चाहता हूं, और यही मेरी वसीयत है, कि मेरे शरीरान्त के उपरान्त मेरे बच्चे—कुटुम्बियों का मैं खयाल नहीं करता, और मेरे परम मित्र, जो मेरे लिए खास भाई के समान हैं, मेरे क्रिया-कर्म में कुछ न करें। दो-चार गरीबों को खिला दें। पौराणिक ढंग से पिंड दें; पर दाहक्रिया से लगाकर तेरहवीं तक कुल बजट दस रुपये से अधिक न हो। यदि मेरे बच्चों और मित्रों के पास फाजिल रुपया हो, तो उसको अज्ञान और सामाजिक रूढ़ियों के दूर करने में लगाएं।"

मेरे कहने से मेरे मित्र ने—'कुटुम्बियों का मैं खयाल नहीं करता'—वाक्य निकाल दिया।

मार्ग-भर मैं अपने प्रिय मित्र की वेदना, दार्शनिक उड़ान और कर्तव्य-परायणता का विचार करता आया; अपने लिए तो मैं 'फानी' के शब्दों में यही कहूंगा कि—

'गम के टहोके कुछ हों बला से, आके जगा तो जाते हैं;
हम हैं मगर वह नींद के माते, जागते ही सो जाते हैं।'

फीरोजाबाद की कालकोठरी

सन् १९३४ की १४ अप्रैल का प्रातःकाल। गुरुदेव विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कलापूर्ण निवासस्थान 'उत्तरायण' में हिन्दी साहित्य-सेवियों की एक छोटी टोली बैठी गुरुदेव की अमर वाणी सुन रही थी। अधिकांश मित्र अगल-बगल, जहां स्थान मिला वहां, बैठे थे और मैं दो-तीन मित्रों के साथ सौभाग्य से, गुरुदेव के सामने, दो गज की दूरी पर बैठा था। साम्प्रदायिकता-विष के विरुद्ध गुरुदेव अपनी भावनाओं को प्रकट कर रहे थे। सब लोग बूढ़े ऋषि की अन्तर्वेदना को ध्यानमग्न सुन रहे थे। गुरुदेव की भव्याकृति, गौर वर्ण, वृद्धावस्था, आकर्षक श्वेत दाढ़ी-मूंछ और बालों ने उन्हें देवदूत बना रखा था। अधिकांश लोग अपने कानों को ही उनकी अमृतवाणी से पवित्र कर रहे थे और मैं हाथ, कान और आंखों से गुरुदेव की वाणी को समेट रहा था। अपने कैमरे की क्लिक और कर्ण-रंध्रों की तत्परता के साथ मेरे खोजी नयन विश्वकवि की आकृति का अध्ययन कर रहे थे। प्रत्येक भाव कवि की मुखाकृति पर अंकित हो जाता था और देशव्यापी साम्प्रदायिकता-विष की निन्दा करते समय उनके मुखमण्डल की आभा कितनी विषाद युक्त हो जाती थी!

'उत्तरायण' से निकलते हुए खयाल हुआ कि विश्वकवि की वेदना, काव्य-निर्झरी द्वारा साम्प्रदायिक ज्वाला को शमन करने में सफल होगी।

उसी तारीख और उसी समय पर, स्थान शान्तिनिकेतन नहीं, वरन आगरा जिले का प्रसिद्ध नगर फीरोजाबाद और डॉक्टर जीवाराम शर्मा का मकान।

पर यह डॉक्टर जीवाराम शर्मा कौन हैं? इन पंक्तियों के लेखक के कोई सम्बन्धी? हां, चचेरे भाई सम्बन्ध से और सगे छोटे भाई व्यवहार से, इतने निकट सम्बन्धी कि सैकड़ों लोगों को और खास मित्रों तक को यह साधारण-सा भेद नहीं मालूम था। पर इन व्यक्तिगत बातों से—भाई की चर्चा से लोगों को कोई प्रयोजन? है। प्रश्न भाई का नहीं है—व्यक्तिगत रोने-धोने को प्रकाश में लाने की हमें आदत भी नहीं। सवाल है मानवता का और देश की एक विकट समस्या का, जिसके कारण हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की नौका उस विषम समस्या के आवर्त में डगमगा रही है।

हां, तो डॉक्टर जीवाराम शर्मा का मकान। उस मकान को प्रभात की किरणों ने उसी भांति शोभित किया जिस प्रकार 'उत्तरायण' को। छत पर अपने छह वर्षीय पुत्र सुरेश, चार वर्षीया बालिका सरला, दो वर्षीया एक बच्ची, दस वर्षीया भतीजी सावित्री और अपनी पत्नी के बीच जीवाराम जी बैठे हैं। मकान किराये का है। आंख का अस्पताल घर से दूर पड़ता है और रोगियों की भरमार रहती है; इसलिए तिलक-भवन के निकट जीवाराम ने अपना निजी मकान बनवाया है। दस-पांच दिन में ही अपने निजी मकान में जाना है। जीवारामजी की पत्नी को गृह-प्रवेश-उत्सव की बड़ी लालसा है और इसीलिए वह अपने पति से उत्सव की चर्चा करती है।

"तो अभी से प्रबन्ध करोगे, तभी तो सब काम ठीक होगा।"

"अभी क्या जल्दी है? शहर में प्रबन्ध करने में क्या देर लगती है।"

"लगती कैसे नहीं है? पहले तिथि निश्चय हो जाय तो मैं गांव से अपनी जिठानियों और दौरानियों को बुलाऊं! दादाजू (इन पंक्तियों का लेखक) को खबर कर देना कि आएं और जीजी (लेखक की पत्नी) को बुलाने इक्का भेजूंगी।"

"विमला और कमला को लिवाने आगरा मैं जाऊंगा।" बालक सुरेश ने बीच में कहा।

माता-पिता बालक की सरलता पर हंस पड़े और माता ने दुलार से अपने इकलौते बेटे को छाती से लगा लिया और गोदी से ही सुरेश फिर बोला—"बुअटिया (सरला) अच्छी नाएें।" "हां, तू बहुत अच्छा है।

जायेगा तू अपने बन्दूक वाले ताऊजी के···।"

"डॉक्टर साहब ! डॉक्टर साहब !! जल्दी नीचे आइये। मेरे भाई का दर्द से बेहाल है"—की ध्वनि ने जीवाराम जी के वार्तालाप के सिलसिले को तोड़ दिया और वे बालक सुरेश का यह उत्तर भी न सुन सके कि "चाचा मोइ (मुझे) अबेई (अभी) पठइदेउ।"

नीचे आकर अपने कमरे में जीवारामजी ने रोगियों को देखना आरम्भ किया। रोगियों का तांता लगा।

मरीज आते और दवा लेकर चले जाते और एक बुढ़िया मुग्ध होकर कहती गई कि बेटा, दूधन न्हाओ पूतन फलो। क्या यह आशीर्वाद था या कालकूट व्यंग्य ? इसी बीच छत से सुरेश और सरला उतरे। जीवाराम जी से कहा—"चाचा, हम तमाशा देखेंगे।" कम्पाउण्डर ओषधि बनाने में व्यस्त था। बच्चे खेल रहे थे और घर के भीतर जीवारामजी की पत्नी ने स्नान करके अपनी मांग में सिंदूर भरा। डिबिया का सिंदूर समाप्ति पर था, और सिंदूर के लिए बाजार आदमी गया। पर बाहरी विधि की रचना और सिंदूर वाली की भावना !

आगे क्या हुआ ? आगे···उफ !

क्या आप माता-पिता हैं ? भाई-बहन हैं ? और कुछ न सही तो क्या आप मनुष्य हैं ? आपके दिल है और दिल में सहृदयता और मानवता का अंश भी है ? तनिक कल्पना कीजिए ! हमारी कलम तो चलती नहीं है। कलेजा मुंह को आता है, हूक उठती है और आंखों से सोता बह चलता है। क्या लिखें ? लिखने को पत्थर का कलेजा चाहिए और जैसा कुछ दिल है उसके टूक-टूक हो गए हैं। पर लिखने को बाध्य होना पड़ रहा है। निजी सम्बन्ध से नहीं। तो फिर किस खयाल से लिखने की चेष्टा की जा रही है और कौन भावना इसमें प्रेरक है ? बस मानवीय भावना और कुछ नहीं।

अच्छा तो जीवारामजी और उनकी पत्नी के स्थान में होने की कल्पना कीजिए। बच्चे खड़े हैं। तमाशे को मचलते हैं। कम्पाउण्डर ओषधि की तैयारी में व्यस्त है। रोगी कराह रहे हैं। छत पर जीवाराम जी का भतीजा विश्वम्भर, एक नौकर और जीवारामजी की पत्नी हैं। मांग में

सिंदूर भरे वह भविष्य का स्वप्न देख रही है कि उसका बेटा सुरेश बड़ा होकर बाप से अधिक नाम करेगा। ठीक उसी समय—तनिक कल्पना कीजिए परिस्थिति की—बाजार से कम्पोत्पादक शब्द आता है—"अली। अली !! अल्लाहो अकबर ! अल्लाहो अकबर !!" सब कान उधर हुए और सावधानी के खयाल से जीवारामजी ने मकान के किवाड़ बन्द कर लिये और इतने ही में उन्मत्त मुसलमान —मनुष्यता और सहृदयताहीन वर्बर ताजिएदार—अपनी माताओं की कोख को कलंकित करने वाले गुण्डे, पागल कुत्तों की भांति मकान पर दौड़ पड़े। अनभ्र वज्रपात-सा हुआ, बिहार के भूकम्प से भी अधिक दिल दहलाने वाला कायरतापूर्ण आक्रमण हुआ—उस मकान पर जिसमें नगर का अत्यन्त लोकप्रिय, प्रभावशाली और समाज-सेवी डॉक्टर रहता था।

डॉक्टर जीवारामजी के पास फीरोजाबाद के अधिकांश मुसलमान इलाज को आते थे, और स्वास्थ्य-लाभ करने पर हमने बीसों को कहते सुना—"खुदा की बरकत से ऐसा डॉक्टर हमें मिला है।" ऐसे डॉक्टर को, जो साम्प्रदायिक भाव से कोसों दूर हो—जो अपने नगर की चुंगी के चक्करों में न हो—किसी मुसलमानी जुलूस से क्या डर ? हां, वह कांग्रेस का हामी था और अपनी तहसील का प्रमुख कार्यकर्त्ता।

यह तो कोई दोष न था। और यदि उसे कोई आशंका होती, तो सतर्क न रहता ! पर पागल मुसलमानों की भीड़ घर पर चढ़ आयी ! अस्पताल और बैठने के कमरे पर धावा बोल दिया—मारो काफिर को ! उस डॉक्टर के मकान पर चढ़ाई कर दी जिसने मुसलमानों को अमृत-पान कराया था और जिसकी लोक-सेवा को मुसलमान 'कुफ्र' के नाम से पुकार रहे थे। बाल-बच्चेदार पाठक और वे जिनमें मानवी ज्योति लुप्त नहीं हो गई है, तनिक कल्पना करें। घबराकर डॉक्टर जीवाराम सुरेश को छाती से लगाकर अन्य बच्चों और रोगियों के साथ भीतर को भागते हैं। सुरेश रोने लगता है। कम्पाउण्डर, कहार और रोगी हक्के-बक्के खरगोश की भांति जीवारामजी के साथ जाते हैं और बाहर मुहम्मद सले अल्लाह के अनुयायी खूनी कुत्तों की भांति भीतर आने की चेष्टा करते हैं। डॉक्टर के भीतर घुसते ही प्रातःकाल को मांग भरने वाली पत्नी, बच्ची को छाती से चिप-

टाए, भयभीत हिरनी की भांति छत से उसके पास भागी आती है, जिसके बूते वह मांग भरती है। विश्वम्भर और रसोइया मिहींलाल ऊपर छत पर ही रहना पसन्द करते हैं, पर जीवारामजी की एक ही धमकी में वे भी नीचे उतर आते हैं। जीने के किवाड़ भीतर से बन्द कर दिए जाते हैं और सब-के-सब एक कमरे में—जिसमें खिड़कियां नहीं और जिसमें वायु जाने का मार्ग सहन में होकर ही है, चले जाते हैं। सहन के ऊपर मजबूत जंगला है—छत से लगा हुआ और उसी पर कपड़े और चारपाइयां रखी हैं।

जीवारामजी ने खयाल किया कि उन्मत्त मुसलमान हू-हक्क करके चले जायेंगे। और कुछ ऊधम पर भी आमादा हुए तो तीन-चार जोड़ी किवाड़ों को तोड़कर आना आसान काम नहीं है। कितने मजबूत थे उस घर के किवाड़ ! घंटों कुल्हाड़ियां चलतीं तब भी उनका फटना कठिन था। यदि जीवाराम जी को तनिक भी आशंका होती, तो छत पर चढ़ जाते और छह-सात जवान तो वे थे ही और छत की दीवार से तीन आदमी सैकड़ों का मुकाबला कर सकते थे। मुंड़गारी पर खड़े होकर छत पर चढ़ने वाले को मार गिराते और अपनी रक्षा कर लेते, पर वहां तो किसी दुर्घटना की आशंका ही नहीं थी।

एक तंग कोठरी में तेरह प्राणी बन्द हैं और चारों ओर कुहराम मचा हुआ है। उन्मत्त मुसलमान भीतर बन्द लोगों को गाली देते हैं और भाग-भागकर पेट्रोल और मिट्टी का तेल लाते हैं। पेट्रोल छिड़क-कर और सींकचों से बैठक में भीतर पैट्रोल फेंककर आग लगा देते हैं। भीतर बालिकाएं सहमी-सिकुड़ी बैठी हैं। दूध पीती बच्ची रोती है। बन्दूक वाले ताऊजी के पास जाने वाला इच्छुक सुरेश मां-बाप के बीच खड़ा कांप रहा है। ज्वाला भभकी भव-भव-भव ! गुण्डे चिल्लाए—या अली, या अली और भीतर बन्द बच्चे चीखे—हाय चांचा, हाय जिजी (बच्चे अपनी मां को जिजी कहते थे) और थोड़ी देर बाद ही बाहर से मुसलमानों का एक दल सीढ़ी लगाकर छत पर चढ़ आया। जीने के किवाड़ बन्द थे। गाली-गलोज से सन्दूक-से कमरे में बन्द प्राणियों का सत्कार किया गया। क्या वे बलि-पशु थे ? स्वयं सोचिए न ? पर थे वे निर्दोष, निहत्थे और निराश्रय ! छत के जंगले पर कपड़े और पलंग थे।

पेट्रोल डालकर आग लगा दी। आग सुलगी नहीं—एकदम भव्वराने लगी ऊपर से। और बाहर किवाड़ों की आग ने जोर मारा। जीने में रखी लकड़ियों में आग पुई। चारों ओर से वह बढ़ी और तीनों ओर की आग का संगम हुआ। औषधि के कमरे, बैठक की आलमारियों और किताबों के जलाने ओर अड़ाम-धड़ाम, धू-धू, चट-चटख, भव-भव से मकान की चिता जलने लगी और उधर कमरे के भीतर बन्द प्राणी तड़फड़ाये। जीवारामजी ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि भगवान रक्षा करो। पर भगवान् तो शायद वहां था नहीं। वहां तो दोजखी कुत्तों का बोलबाला था। दम घुटा। बच्चे चिल्लाए—चाचा, भैया, जिजी, हाय! अरे! आग की ज्वाला अनगिनत जीभों से कमरे की ओर लपकी पर भीतर न जा सकी। हां, उसका दूत धुआं गहरे बादल के रूप में कमरे में बढ़ा। हाथों हाथ दिखाई न पड़ता था। सुरेश चीखा---चाचा! सरला पुकारी—चाची मरी। नाकों में बजाय आक्सीजन के धुआं घुसा, दम टूटने लगे। मुंह खुले। आंखें फटीं। धुआं की सत्ता ने और जोर मारा। विश्वम्भर भड़भड़ा कर बाहर निकला। सहन की आग के करीब पानी की टंकी भरी थी। बेचारा झुलसा पर हिम्मत बांधकर तीन-चार बाल्टी पानी उसने फेंका और चिल्लाया कि चाचा आग में होकर ही भागो। मुसलमान इस बीच छत से लूट-लाटकर भाग गए थे। पर ऊपर कौन जाता? जीने के मार्ग में भी आग जल रही थी। विश्वम्भर फिर चिल्लाया। जीवारामजी कमरे से बाहर हुए; पर आग की लपटों ने उन्हें न बढ़ने दिया और सुरेश की कराह आयी—चाचा! आग से खदेड़े जाने और बच्चे की आह सुनने से डॉक्टर कमरे में फिर कैद हो गए। विश्वम्भर दरी को भिगोकर जीने में होकर भागा। मुंह और हाथ-पैर बुरी तरह जले, जल-जलाकर वह छत पर से दूसरी छत पर कूदा। उधर कमरे के भीतर धुएं के घोर अंधकार में मां, बाप, बच्चे, कम्पाउण्डर और रोगी इधर-उधर तड़पकर गिरे। अर्धमूर्च्छा में जीवाराम ने अपने बच्चे सम्हालने की कोशिश की। वे हाथ जिन्होंने हजारों को शफा दी, अपने बच्चों को शफा न दे सके। "आह रे! अरे, कोई बचाना।" फिर क्षीण शब्द अवरुद्ध कण्ठ से 'चाचा' और फिर निस्तब्धता।

दो घंटे बाद लोग बचाने आये तो उस कालकोठरी से तीन मूर्च्छित प्राणी निकले। बालिका तो थोड़ी देर बाद चल बसी। डॉक्टर प्यारेलाल और डाक्टर भवानीशंकर के उद्योग से अभागिनी पत्नी विधवा के रूप में बची और रसोइया भी बच गया। कौन जाने विधवा पत्नी और रसोइया की भांति जीवाराम जी में भी जान रही हो। लोग कहते हैं सांस थी।

उस समय सशस्त्र पुलिस थी। हाकिम परगना था। दरोगा था। र्सािकल इंस्पेक्टर था और न्याय तथा रक्षा का दम भरने वाली ब्रिटिश सरकार का भी अन्त न हुआ था। आग क्यों नहीं बुझाई गई? आग लगाने वाले आततायियों को क्यों नहीं तितर-बितर कर दिया गया? डॉक्टर जीवाराम जी का मकान ही क्यों विशेष रूप से चुना गया—इन बातों पर हमें कुछ नहीं लिखना।

दिल में तूफान उठा हुआ है। दिमाग काबू में नहीं है। अभागिनी विधवा---जीवारामजी की पत्नी और पिछले तीस वर्ष की स्मृतियों का खयाल करके हृदय फटा जाता है। बीसों बार आंसू बहाये हैं। वाह रे बन्दूक वाले ताऊ! गोद खिलाया सुरेश, थपकियां दी हुई सरला और हंसाने वाली सावित्री, विधवा बहन के देवर गंगाविष्णु, कम्पाउण्डर और वे रोगी उस कालकोठरी में दम घुटकर समाप्त हो गये। कलकत्ता की कालकोठरी तो हाल वैल के दिमाग की कल्पना थी सर्वथा झूठी, मनगढ़न्त। और उस गपोड़गाथा की कोठरी में आग न लगाई गई थी। पर फीरोजाबाद में जो घटना घटी, निर्दोषों की दम घोटकर हत्या की गई, उसकी जघन्यता का वर्णन कोई कैसे करे।

हमारे दिल में तो हूक उठती है। स्वर्गीय भाई की विधवा को कैसे समझाया जाय। उसकी एक बच्ची विमला बची है, जो आगरा थी। विमला को लेकर सुहागभरी वह फीरोजाबाद गई थी, और आज अपना सुहाग लुटाकर, बच्चों को साम्प्रदायिकता की अग्नि में जलाकर, फीरोजाबाद को सब कुछ अर्पण करके, सधवा से विधवा होकर वह गांव लौटी है।

क्या निर्दोष बच्चों के वध और विधवा की आहों में कुछ शक्ति है? क्या वे पुर-असर हो सकती हैं और पुर-असर होकर विघ्न-बाधाओं को

चीरती वे क्या हमें उस आदर्श पर ले जा सकती हैं जहां से हम सभ्यता का पहला पाठ, मानवता की अ, आ, इ, ई सीख सकें—आदमी को आदमी समझें? हमें तरस आता है मुस्लिम युवकों पर! क्या वे इतने कायर हैं? क्या वे इतने पतित हो गए हैं कि उन्हें अपने देश और मानवता का कुछ खयाल नहीं है?

अपनी निजी हानि के बारे में हम क्या लिखें? समाचार-पत्रों में अपनी वेदना का प्रदर्शन करना अशिष्टता है। हां, देश की खातिर हम यहां तक कहने को तैयार हैं कि यह मुहर्रम और रामलीला ढकोसले हैं। मन्दिर और मस्जिद, गायत्री और कलमा सब फजूल हैं जब उनसे मानवता की रक्षा नहीं होती। वे तो अब अमीरों और झगड़ालू लोगों के लिए अखाड़े बन गये हैं। वहां पर साम्प्रदायिकता के कीटाणु पनपते हैं।

हिन्दू, मुसलमान और नौकरशाही तनिक हमें बताएं—हमें न बताएं तो बिलखती विधवा को, उसके बिछुड़े पति और बिलखकर प्राण देने वाले बालकों की खातिर ही बताएं कि फीरोजाबाद के मुसलमानों ने इतने निर्दोष मानवी पुतलों के खून से अपने हाथ क्या रंगे हैं?

अपराधी

····नामक ग्राम में ब्राह्मणों के दो कुटुम्ब रहते थे। एक ही पितामह की सब सन्तान थे। पर, जैसे एक ही वृक्ष की शाखाएं पूर्व और पश्चिम की ओर फैल जाती हैं, उसी प्रकार दोनों कुटुम्बों की प्रकृति भी परस्पर विरोधिनी दिशा में थीं। एक-दूसरे को देख नहीं सकते थे। झगड़े का मूल कारण था एक पांच बीघे का छोटा-सा खेत जो पंचायत के बंटवारे से मोहनलाल और उसके भाइयों को मिला था। पर पृथ्वीपाल और उसके भाई लाठी के बल से उस खेत को हथियाना चाहते थे।

मोहनलाल पांच भाई थे। अपने भाइयों में वह सबसे छोटा था, परन्तु उसका स्वभाव बड़ा गम्भीर था। बोलता कम था। चाल अकृत्रिम थी। चेहरे-मोहरे से वह कुशाग्रबुद्धि प्रतीत होता था, और उसका विपक्षी पृथ्वीपाल गांव भर में मारतेखां प्रसिद्ध था। अनायास ही वह साधारण-सी बात पर लड़ पड़ता था। गाली-गलौज तो उसका तकियाकलाम था। बक्की वह इतना था कि यदि कोई उसके पास न होता तो गाय-भैंस और खूंटा-पगहा से बातें किया करता था। पृथ्वीपाल भी पांच भाई थे, पर पृथ्वीपाल सबसे बड़ा था। लोग उसे अरहर का डूंड़ समझते थे, जिसमें कपड़े उलझकर सदैव फट जाते हैं। सबसे बुरी बात उसमें यह थी कि जब कभी मोहनलाल या उसके भाई उधर होकर निकलते तब घोड़े और कुत्ते को संकेत करके व्यंग्य-वचन बोला करता। मोहनलाल या अपने किसी विपक्षी को उधर आते देखता तो पृथ्वीपाल अपने कुत्ते की ओर

संकेत कर कहना आरम्भ कर देता—"अब धीरे-धीरे क्या चलता है ? भंगी से तेरे नाक-कान कटवा कर तेरे मूंह में न थुकवाऊं तो मेरा नाम पृथ्वीपाल नहीं।" मोहनलाल गर्दन नीचे किये निकल जाता। उसने उधर से आना-जाना भी छोड़ दिया था; पर बढ़ई के घर के लिए उधर होकर ही रास्ता था।

गुण्डे चाहे वे शिक्षित हों अथवा अशिक्षित, कमजोरों पर अपनी शक्ति दिखाते हैं। पृथ्वीपाल भी गुण्डा था। किसी किसान का खेत कटवा लेना, चमारों के जूते लगवाना, कहारों से बेगार में काम कराना और पुलिस की ठोड़ी चूमना, निर्बलों पर चढ़ बैठना, और जरबदस्तों के सामने दब जाना, उनकी खुशामद करना—यही उसका कार्यक्रम था। गांववाले कहा करते थे, 'अरे भैया बासूं कोई का कए, बृतो सूदो (सीधा) दरोगाजी के ढिगा (पास) चलौ जातु ए। दरोगाजी बाई की मान्त (मानते) एं।' ऐसे आदमी से उलझना साधारण किसान का काम न था। अत्याचार सहना और तिरस्कृत होना, दबाए जाना और दबते रहना—ये बातें तो गांववालों के लिए ऐसी हो गई हैं, जैसे होली और दीवाली का आना और चला जाना। ये तो उन रस्मों के समान हैं जो अदा करनी ही पड़ती हैं, पर मोहनलाल के हृदय में अन्दर-ही-अन्दर ज्वालामुखी धधक रहा था। अभी वह मन मारे बैठा था। उसके भाइयों ने भी शान्ति धारण करने के लिए उससे आग्रह किया था। 'तू अकेला क्या कर लेगा ? और हम सब मिलकर ही पृथ्वीपाल और उसके भाइयों का क्या कर सकते हैं ? उनके पास रुपया है। लाठी का जोर है। अपना कोई हितू नहीं। उस खेत को जाने भी दो। जन्म भर का टण्टा मिटेगा। खेत लेकर अपना भाग्य तो कोई छीन न लेगा।' 'यह कैसे हो सकता है कि हम अपना खेत उसे जोतने दें। पंचों ने उसे हमें दिया है। हम ही उसे जोतेंगे। पृथ्वीपाल के पास पुलिस और लाठी का जोर है, तो हमें न्याय और ईश्वर का भरोसा है।'

ऐसी बातें मोहनलाल और उसके भाइयों में महीने में दो-चार बार हो जातीं।

पंचायत को हुए आठ-नौ महीने होने आये, और जाड़े के पश्चात् गर्मी, और गर्मी की भयंकर आंधी और लू के उपरान्त आधा आषाढ़ आ गया। गांववालों ने अपने कच्चे और टूटे-फूटे मकानों की मरम्मत भी कर ली थी। छान-झोंपड़ी भी लोगों ने डाल ली थीं। ग्रामीण स्त्रियों ने घरों के कोनों में कण्डों के ढेर लगा लिये थे जिससे बरसात में ईंधन का कष्ट न हो। बारिश के लिए प्रार्थनाएं करना और मिन्नतें मनाना आरम्भ हो गया। सब शकुन अच्छे थे। जेठ भी खूब तपा था। गंगा-दशहरा को बूंदा-बांदी भी हुई थी, इसलिए सबका खयाल था कि बारिश खूब होगी। किसानों के लिए उचित समय पर बारिश हो जाना मानो अन्न का बरसना है।

अन्त में, आषाढ़ में बीस दिन जाने के उपरान्त बादल घिरा और किसानों के भाग्य से वृष्टि अच्छी हुई। दूसरे ही दिन किसान लोग फावड़े, हल और बैल लेकर अपने खेतों पर पहुंचे। मोहनलाल और उसके भाई भी उसी पांच बीघे पर पहुंचे, जिसको पंचों ने उन्हें दिलवाया था। मोहनलाल हल पर था और उसके शेष चार भाई कांटे बीनने और मेंड़ डालने में लगे हुए थे। अभी आधा बीघा खेत भी न जुत पाया था कि पृथ्वीपाल और उसके भाई कधों पर लट्ठ रखे आते हुए दूर से ही दिखाई पड़े। वे विवादग्रस्त पांच बीघे की ओर ही आ रहे थे और उनकी चाल किसी भयंकर भविष्य की सूचक थी। इसलिए मोहनलाल और उसके भाइयों ने काम बन्द कर दिया और वे तम्बाकू पीने के बहाने एकत्र होकर बैठ गये। मोहनलाल ने शीघ्र ही खेत की मेंड़ वाले बबूल से दो शाखाएं काट लीं। वे पांचों अपने साथ दो ही लाठी लाये थे। वे फौजदारी की तैयारी करके न आये थे। फौजदारी में वे अपने विपक्षियों से कई बार हार भी चुके थे। पर, सामने आने वाली बला से बचने का कुछ तो उपाय करना ही पड़ता है। बावले कुत्ते से बचने के लिए हाथ में लकड़ी पकड़नी ही पड़ती है, चाहे फिर रक्षा हो या न हो।

मोहनलाल अपने भाइयों के पास आकर बैठा ही था कि पृथ्वीपाल और उसके भाई सौ-सवासौ कदम पर आ पहुंचे और गाली देते हुए उन्होंने खेत में बैठे विपक्षियों को आह्वान किया। "देखें किसकी छाती पर बाल हैं

जो हमारे जीते-जी इस खेत को जोते ! ओ मोहना के···देखें तूने अपनी मां का कितना दूध पिया है ? आ, जरा मरदों का सामना कर। ला उन अपने हिमायती पंचों को।" कहकर उसने एक लाठी बैलों को मारी। बैल पगहा तुड़ाकर भाग गये। तब पृथ्वीपाल, उसके भाई और तीन साथियों आठ आदमियों ने—मोहनलाल और उसके भाइयों पर आक्रमण किया। खटाखट और तड़ातड़ लाठियां चलने लगीं। दस मिनट में ही मोहनलाल के भाई धराशायी हो गये। लाठियां उनके पास न थीं। पर, आत्म-रक्षा के लिए निहत्था आदमी तक सैकड़ों का सामना करता है। शिवाजी ने औरंगजेब के दरबार में, खिड़की में होकर मार्ग होने के कारण, पहले अपने पैर दरवार की ओर किये थे, शीश नहीं झुकाया। चींटी भी दबने से काटती है। फिर मोहनलाल और उसके भाई कायर न थे। लड़े और घायल होकर गिर गये। पर, मोहनलाल और पृथ्वीपाल की लाठी चल रही थी। मोहनलाल ने लड़ते-लड़ते पृथ्वीपाल का वार बचाकर उसके घुटने में एक वार इस फुर्ती से किया कि पृथ्वीपाल के हाथ से लाठी गिर गई और वह चक्कर खाकर गिर पड़ा। पर, इतने ही में उसके साथियों ने मोहनलाल की खोपड़ी पर वार किया। एक को तो वह बचा गया पर दूसरी लाठी उसके माथे पर बैठी और वह बेहोश होकर गिर गया।

इस दुर्घटना के दूसरे दिन अस्पताल में छह आदमी दाखिल किये गये। उनमें से एक तो आने के एक घंटे उपरान्त मर गया। वह मोहनलाल का बड़ा भाई था। मोहनलाल को भी गहरी चोट थी। उसके सत्तर टांके लगे थे। वह तीन महीने तक अस्पताल में रहा। पृथ्वीपाल एक महीने बाद अस्पताल से अलग हो गया। सब आदमी पुलिस की हिरासत में ले लिये गये। सरकार की ओर से पृथ्वीपाल और उसके भाइयों पर मुकदमा चला।

पृथ्वीपाल को पुलिस पर बड़ा भरोसा था। पुलिस ने उसका साथ भी दिया। कांस्टेबिलों ने गांव में जा-जाकर लोगों को धमकाया कि जो कोई पृथ्वीपाल और उसके भाई के विरुद्ध गवाही देगा उसकी खैर नहीं, पुलिसवाले उसको किसी-न-किसी अंटे पर रखकर बड़े घर की हवा

खिलाएंगे। कम से कम दफा 110 में तो फांसा ही जायगा। पृथ्वीपाल सरकार और पुलिस का खैरख्वाह है और मोहनलाल बड़ा सरकश। बस, गांव में रौब जम गया।

पृथ्वीपाल और उसके भाइयों पर मजिस्ट्रेट के यहां मुकदमा चला और मजिस्ट्रेट ने उन्हें सेशन सिपुर्द कर दिया। सेशन में पृथ्वीपाल को प्राण-दण्ड की और उसके तीन भाइयों को काले पानी की सजा हुई। शेष सब आदमी बरी कर दिए गये।

कानूनी दांव-पेंच बड़े विकट होते हैं। यद्यपि पुलिस को मुंह की खानी पड़ी, तो भी पृथ्वीपाल के यार-दोस्तों ने हाईकोर्ट में अपील की। अन्तिम बाजी लगवा ही दी। और एक हजार रुपये रोज पर एक बढ़िया वकील किया। अपील हुई और अभियुक्तों के वकील ने बड़ी करारी बहस की। जजों ने सबूत को सन्देहात्मक पाया। घटनास्थल का कोई गवाह था ही नहीं। कानूनी वाग्जाल की तर्क के दांव-पेंच की विजय हुई।

पृथ्वीपाल और उसके भाई हाईकोर्ट से छूटकर सीधे गांव को आये, और मूंछों पर ताव देते हुए मोहनलाल के मकान के पास होकर निकले और मोहन ही से उन्होंने कहा—"ले मोहना, हम साफ बच आये और तेरी छाती पर फिर दाल दलेंगे। कुत्ते की मौत तुझे न मारा तो मेरा नाम पृथ्वीपाल नहीं।" यह जानकर कि हाईकोर्ट से उसके शत्रु—उसके भाई के वधिक—साफ छूट आये, मोहनलाल हक्का-बक्का रह गया। पर क्या करता? दिल मसोसकर रह गया। हां, इधर कुछ दिनों से उसमें कुछ पागलपन-सा आ गया था। वास्तव में पागल नहीं हुआ था, उसके हृदय में धधकने वाले ज्वालामुखी की लपटों ने विकराल रूप धारण कर लिया था।

एक बार फिर आषाढ़ आया। किसानों के लिए वह आनन्ददायी, पर मोहनलाल के लिए दारुण दुखदायी था। उसने वह पांच बीघा खेत नहीं जोता। इसलिए नहीं कि वह शत्रुओं से डरता था, वरन् इसलिए कि

उसके भाइयों ने उसे खेत न जोतने को बाध्य कर दिया। पृथ्वीपाल ने भी वह खेत नहीं जोता। आधा सावन भी आ पहुंचा। हर साल सावन में गांव में आल्हा हुआ करती थी। इस वर्ष भी आल्हा-गान हुआ। हां, पिछले साल तो फौजदारी के कारण आल्हा-गान नहीं हुआ था। इस वर्ष की धूमधाम ने पिछले वर्ष की कमी पूरी कर दी।

गांव के ठाकुर साहब की चौपाल पर सायंकाल को भीड़ लगी हुई थी। आस-पास के गांवों के आदमी भी उपस्थित थे। आल्हा गाने वाले ने हाथ में तलवार लेकर प्रसंग में कहा—

'जाके बैरी सम्मुख बैठे, वाके जीवन को धिक्कार।'

ढोलक वाले ने धिक्कार पर ठेका लिया और पृथ्वीपाल ने उचक-कर सीधे हाथ से मूंछों पर ताव दिया और मोहनलाल की ओर घूरकर देखा।

सहनशीलता की हद हो चुकी थी। अपमान की सीमा का उल्लंघन हो चुका था। मोहनलाल के हृदय में प्रतिहिंसा पूर्ण रूप से जाग्रत हो गई। संकोच और मोह के बांध टूट गये। मोहनलाल के हृदय में बात लग गई। वह वहां से उठा और बिना इधर-उधर देखे हुए न मालूम कहां चला गया। उसके भाइयों ने थाने में रिपोर्ट भी की। रिपोर्ट तो लिख ली गई पर साथ में उन पर यह दुत्कार भी पड़ी कि मोहनलाल कहीं चोरी को गया होगा।

ठीक छह महीने बाद सायंकाल को गोधूलि के समय जब पृथ्वीपाल चारा काट रहा था, एक भयानक आकृति वाले युवक ने, जिसकी दाढ़ी-मूंछ बढ़ी हुई थीं और जिसकी आंखों से ज्वाला निकल रही थी, दुनाली बन्दूक पृथ्वीपाल के सामने करके कहा—

'जाके बैरी सम्मुख बैठे, वाके जीवन को धिक्कार।'

इसके बाद धांय-धांय और समाप्त। पृथ्वीपाल की लोथ वहीं की वहीं रह गयी और चारा रक्त-रंजित हो गया। गोली की आवाज सुनकर आदमी इकट्ठे हो गये पर खूनी के पास किसी को आने का साहस न होता था। उसने उच्च स्वर से कहा—'भाइयो, मैं मोहनलाल हूं। यदि

हाईकोर्ट से न्याय नहीं हुआ, तो मैंने स्वयं न्याय कर दिया। अब मेरे जीवन को धिक्कार नहीं है। पर प्रयत्न मैं यह करूंगा कि इस राक्षस पृथ्वीपाल के सब भाइयों का नाश कर दूं। मैं तो मरूंगा ही, पर संसार को बता जाऊंगा कि अपमान और अन्याय का क्या फल होता है।' यह कहकर और सबसे राम-राम करके अंधकार में वह कहीं चला गया। किसी की हिम्मत न हुई कि लड़कर उसे पकड़ ले। सब लोग हक्के-बक्के-से रह गये।

पृथ्वीपाल की लाश थाने ले जायी गई और मोहनलाल की गिरफ्तारी के लिए एक हजार का इनाम रखा गया। पर कहीं उसका पता न चला। हां, छह-सात मास के उपरान्त पुलिस को यह समाचार मिला कि मोहनलाल और उसके एक साथी ठाकुर ने, जिसका वारंट पहले ही से था, एक महीने के भीतर छह-सात डाके डाले और वे हजारों का माल लूट ले गये। मोहनलाल की गिरफ्तारी के लिए डेढ़ हजार का इनाम कर दिया गया। पर वह हाथ न आया।

विस्मृति मानव-जीवन के लिए एक आवश्यक वस्तु है। यदि हम भूलें नहीं तो हमारा जीवन एक प्रकार से असंभव हो जाय। अपने प्रियजनों के विरह के घाव को भरने वाली विस्मृति ही है। पृथ्वीपाल के भाई भी आखिर पांच तत्त्व के ही तो बने थे। समय बीतने पर वे अपने भाई का दुखड़ा भूल गये। वही आषाढ़ का समय था। बैल लेने के लिए पास की एक हाट में वे गये। लौटने में अंधेरा हो गया, उनका मार्ग ढाक के एक जंगल में होकर था। चारों भाई बाजार की बातें करते जाते थे कि इतने में ही दो सशस्त्र आदमियों ने उनका मार्ग रोक लिया और उनमें से एक ने कहा—

"जाके बैरी सम्मुख बैठे, वाके जीवन को धिक्कार।"

धांय-धांय दो फायर हुए और दो लाशें वहीं धम से गिर गईं। बचे हुए दो भाई भागे। परन्तु इस समय तो मनुष्य के रूप में दो बाघ—मोहनलाल और उसका मित्र—उनका पीछा कर रहे थे। वे भला कहां बच सकते थे? दस-बीस कदम पर ही ठोकर खाकर एक तो गिरा और

दन्न से एक फायर और हुआ ! वह वहीं ठंडा हो गया। दूसरा सौ गज पर जाकर उनके हाथ लग गया। चार हत्या करके मोहनलाल ने बन्दूक रखकर प्रार्थना की—'भगवन्, मेरी मुराद पूरी हो गयी। अब चाहे मेरा कुछ भी हो, मुझे अब शान्ति है। संसार में अब मेरा कोई वैरी नहीं।'

मोहनलाल का मूल्य बढ़ गया और उसकी गिरफ्तारी के लिए दो हजार का इनाम कर दिया गया।

विधि की गति अपार है। मोहनलाल ज्वर से पीड़ित अपने एकमात्र मित्र बदनसिंह की ससुराल में पड़ा था। बड़ा आश्वासन दिलाकर बदनसिंह उसको वहां छोड़ आया था। फसलें खड़ी थीं और एक घने ज्वार के खेत के एक झोंपड़े में वह ज्वर से कराह रहा था। डाके के हजारों रुपये बदनसिंह और मोहनलाल ने उन लोगों को दिये थे जिनके यहां उसने अब आश्रय लिया था। भरी हुई बन्दूक उसके बगल में रहती थी। गुपचुप से उसका इलाज भी होता था। पर संसार के अनेक कार्य उन चांदी के टुकड़ों से—जिनको रुपया कहते हैं, बनते-बिगड़ते हैं। चांदी के चमकते हुए टुकड़ों ने ही बदनसिंह की ससुरालवालों को अपने अतिथि के साथ विश्वासघात करने के लिए बाध्य कर दिया। ओषधि में तेज शराब मिला दी गई ; मोहनलाल बेहोश हो गया। और जब उसे चेतना हुई तब उसने अपने आपको पुलिस की हवालात में दोहरी हथकड़ी और बेड़ियों से जकड़ा पाया। बाहर पांच सशस्त्र सिपाही पहरे पर थे।

मजिस्ट्रेट की अदालत खचाखच भरी हुई थी। तिल रखने को भी स्थान न था। थोड़ी ही देर में बेड़ियों की झंकार सुनाई पड़ी और पुलिस के कड़े पहरे में एक अभियुक्त लाया गया। मजिस्ट्रेट ने पूछा—मोहनलाल तुमने पांच आदमियों का खून किया ?

मोहनलाल—(बड़ी गम्भीरता से)—"जी हां, किया।"

मजिस्ट्रेट—"तुम अपने अपराध को स्वीकार करते हो या नहीं ?"

मोहनलाल—"मैं अपराधी नहीं हूं।"

मजिस्ट्रेट—"सो कैसे ?"

मोहनलाल—"कानून अपराधी है। मुझे डाकू और खूनी बनाने का दायित्व कानून पर है। न पृथ्वीपाल छोड़ा जाता और न आज मुझे दुनिया खूनी और डाकू कहने को यहां जमा होती। आपकी और आपके कानून की दृष्टि में कुछ भी कहलाऊं, पर मैं अपने आप को अपराधी कदापि न कहूंगा। जनता की राय को मैं ठुकराता हूं।"

मजिस्ट्रेट—"तुम कुछ और बयान देना चाहते हो?"

मोहनलाल—"पूरा बयान तो मैं भगवान् के यहां दूंगा। पर जो कुछ और मुझे कहना होगा वह सेशन में कहूंगा।"

मजिस्ट्रेट ने मोहनलाल को सेशन-सिपुर्द कर दिया।

सेशन की पेशी के दिन मोहनलाल को लेने के लिए एक मोटर जेल के दरवाजे पर आयी, जिसमें आठ-दस संगीनों और बन्दूकों से सुसज्जित सिपाही बैठे थे। जेलखाने की कोठरी खोली गई। मोहनलाल का शरीर तो वहां था, परन्तु उसके प्राण-पखेरू उड़ चुके थे। कदाचित् उसने इस खयाल से अफीम खा ली थी कि उसके ब्राह्मण शरीर को फांसी के बाद भंगी छुएंगे। इस प्रकार उसका बयान सेशन में न हो पाया।

चन्दा

चन्दा ? हां, वह चन्दा है। आकाश में उगने वाले—विरहिन-दुखदाई और बच्चों के मामा—चन्दा की भांति अंगदपुर का चन्दा चमार अपने घरवालों की दरिद्रता-रूपी रजनी के लिए विमल विधु है। उसकी वृद्धा मां उसे देखकर, थोड़ी देर के लिए अपने कष्ट भूल जाती है और सन्तोष की सांस लेती है। अपनी पुत्रवधू—चन्दा की स्त्री—को सुनाकर, इसलिए, वह दिन में कई बार कहती है—"बहू, वेदखली हो गई, तो कोई बात नहीं, तेरा सुहाग बना रहे। बुरे दिन किसी के नहीं रहते। ईमानदारी नहीं छोड़नी चाहिए। कहीं-न-कहीं मजूरी मिल ही जायगी। बुरे दिन और भूख-प्यास की कोई चिन्ता नहीं। राजा हरिश्चन्द्र जैसे भले राजा पर आफत पड़ी थी। हां, मुझे रमल्ला की चिन्ता है। वह बीमार है।"

बुढ़िया की बातों को चन्दा की स्त्री अन्यमनस्क भाव से सुनती और चमौटे-जैसे अपने हाथों से घर और बाहर का काम किया करती। उसकी दौरानी—रमल्ला की स्त्री—को रमल्ला की देख-रेख से ही अवकाश न मिलता, इसलिए वह अपनी जिठानी का हाथ न बंटा सकती।

यों गर्मियों के दिनों में कोई विशेष काम भी न था। खेती के दिनों में जब चन्दा का सब घर खेत पर जुट जाता था, तब दोनों बहुओं को रोटी करने तक की फुरसत न मिलती थी; पर परिश्रमी आदमी—विशेषकर परिश्रमी स्त्रियां—पड़े हुए काम से ऐसे घिनाते हैं, जैसे खून-खच्चर से परम वैष्णव। काम करने की उनकी प्रवृत्ति ऐसी होती है, जैसे ढलाव की

ओर पानी की। चन्दा की स्त्री भी बड़ी कमाऊ थी। थोड़े से काम पर भी वह ऐसे टूट पड़ती, मानो उसे ढेरों काम करना हो। इस कारण बुढ़िया की बातों पर वह विशेष ध्यान न देती। गर्मी के दिनों में अवकाश ही अवकाश था। चन्दा काम की तलाश में दिन-भर घूमता और मुंह फुलाये शाम को घर आ जाता। कहीं काम होता, तो मिलता। जिस प्रकार ध्रुव-प्रदेश में भालू शीतनिद्रा (Hibernation) में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार उत्तरभारत के गांवों में काम और मजूरी ग्रीष्म की उष्णता से सूख जाते हैं। दस दिन तक चन्दा और उसकी मां ने मांग-जांचकर और उधार लेकर काम चलाया; पर दस दिन के बाद खाने की समस्या और भी उग्र हो गई। खाने की समस्या से अधिक कष्टदायक उधारवालों के तकाजे थे। ऋण भी तो हैसियत पर ही मिलता है। जीवन की जड़ें, पेड़ की जड़ों के समान अनुकूल परिस्थिति में ही पौड़ती हैं। चन्दा के कौटुम्बिक जीवन-रूपी पौधे को बेदखली ने उपजाऊ भूमि से उखाड़कर दरिद्रता और भूख की शुष्क चट्टान पर रख दिया था। दस दिन तक तो किसी प्रकार गुजर-बसर हुई, उसके बाद फाके होने लगे। खाने के लिए हवा और गम ही थे। सो गम से पेट की अग्नि कुंठित भले ही हो जाय, बुझती कदापि नहीं। और हवा—अच्छे स्वास्थ्य—से तो वह और भी प्रज्वलित हो जाती है।

जेठ की दुपहरी में, जब पशु-पक्षियों ने पेड़ों की शरण ले ली थी, मैं पक्की सड़क से घर की ओर को लपका आ रहा था। कोई आधा मील ही जाना था; और ऊसर में होकर था रास्ता। दूर से कुदाली की आवाज सुनाई पड़ी। मैंने सोचा कि ऐसा कौन-सा पागल है, जो लू में कंकड़ खोद रहा है। खयाल किया, कोई कामचोर ठेकेवाला होगा, जो प्रातःकाल तक सोता होगा और दोपहर को काम करता होगा। पास आया, तो चौंककर खड़ा हो गया। शीघ्र ही पालागन से अभिवादन हुआ।

"अरे चन्दा, मरेगा क्या ? जीव-जन्तु घबराकर पेड़ों के नीचे हैं, और तू दुपहरी अपने ऊपर काट रहा है !" मैंने भर्त्सना की भावना से कहा।

"पंडितजी, मरना तो है ही। मेहनत करके क्यों न मरूं ? छाया

और आराम पशु-पक्षियों को बदा होगा। यहां तो भाग्य में जहर भी नहीं।" वेदनामिश्रित मुसकान से चन्दा ने कहा।

लंगोटा पहने, नंगे शरीर, नंगे पैर और कुदाली के सहारे चन्दा खड़ा था। उसकी दग्ध आत्मा उसके रोम-रोम से प्रस्फुटित होकर जमींदारी-प्रथा को शाप दे रही थी। मैं दो मास उपरान्त गांव में आ रहा था। चन्दा की बेदखली और परेशानी सुनकर हृदय को एक चोट लगी। मन-ही-मन मैंने कहा कि चन्दा कंकड़ों का गड्ढा नहीं खोद रहा है, वरन् जमींदारी-प्रथा की कब्र, जिसमें, यदि अत्याचार की यही गति रही तो, जमींदारी प्रथा की पूतना गड़ जायगी। "अरे, तू दो-चार धड़ी नाज मेरे भाई जगन्नाथ से ले आता।" मैंने शिकायतन कहा।

"मांग-जांचकर कब तक काम चलाता? ले तो आया था; पर फिर दुबारा जाने की हिम्मत न हुई।" चन्दा ने नीचा सिर करके कहा।

मैं—"चल मेरे साथ! पहले खाना खा और घरवालों को आटा-दाल पहुंचा।"

चन्दा—"सो पंडितजी, आपका ही खाता हूं। आज ही ठेका लिया है। कंकड़ खोदकर ठेकेदार को दिखाना है, नहीं तो ठेकेदार निकाल देगा।"

मैं—"चल। ठेकेदार से मैं भुगत लूंगा।"

घर आकर चन्दा को खाना खिलाया। उसकी पेट की ज्वाला का बस चलता, तो पेट फाड़कर निकल पड़ती और सब खाना खा जाती। पानी पीकर चन्दा कुछ लेटा और अरहर की दाल और आटा लेकर घर पहुंचा।

अगले दिन प्रातःकाल मैं अपना सामान बांध रहा था। बच्चे चारों ओर खेल रहे थे। कोई बिस्तरे पर आ बैठता, तो कोई मेरी किताबें लाता। कठोरता को पिघलाने के लिए बच्चों का दृश्य मोमबत्ती से अग्नि स्पर्श करना है। संसार में कौन ऐसा है, जो अबोध और सौन्दर्य की प्रतिमा—बच्चों—को देखकर द्रवित न हो जाय। नराधम और नरपशु ही बच्चों पर हाथ उठा सकते हैं। किसी बच्चे को हटकता, तो किसी से

सामान बंधाने में सहायता लेता। सामान बांधकर खड़ा हुआ, तो सामने मुंह लटकाये चन्दा खड़ा था।

"अरे, क्या हुआ? गुम-सुम क्यों खड़ा है?" मैंने आश्चर्य से पूछा।

चन्दा—"कुछ कहने की बात नहीं, पंडित जी!"

मैं—"क्यों? क्यों? क्या हुआ?"

चन्दा—"कल तो परसी थाली सामने से उठ गई।" कहकर चन्दा की आंखें नीचे को हो गईं और उसके कान्त कपोलों पर आंसू ढलक गये।

चन्दा की वेदखली तो हुई थी, पर साथ में उसके सिर पर बकाया लगान की डिग्री भी थी। पास-पल्ले तो उसके कुछ था ही नहीं; पर हुकूमत की धाक जमाने के लिए जमींदार साहब ने घर के बर्तन-भांड़े भी कुर्क कराने चाहे। कई बार कुर्की आयी थी; पर घर भीतर से बन्द मिलता। उस दिन चन्दा आटा और दाल लेकर पहुंचा, तो उसके घर में चहल-पहल मच गई। गेहूं का आटा, अरहर की दाल, जिसमें हरी खटाई पड़ी हो और पोदीना की चटनी मिलने की पूर्ण आशा एक गरीब परिवार के लिए, जो कई दिन से फाके कर रहा हो, कितनी सुखदायी होती है, इस बात का अनुभव भुक्तभोगी ही कर सकते हैं। बच्चे भूख से तड़प रहे हों और मां की गोद में भाग-भागकर रोटी के लिए रूठ पड़ते हों तथा आसपास के बच्चों को खाना खाते देखकर अपनी मां से मचल जाते हों; और मां के पास अपनी गोद और चुमकार के अतिरिक्त पेट की अग्नि की शान्ति के लिए कुछ न हो; ऐसी दशा में किसी को भरपेट भोजन की सामग्री मिल जाय, तो उसकी कल्पना सहृदय ही भले कर सकें।

चन्दा ने विजयी की भांति घर में जाकर जो आटा—गेहूं का आटा—और दाल रखी, तो उसकी वृद्धा मां और उसकी स्त्री की आंखों में ज्योति प्रज्वलित हो गई। थोड़ी देर में चूल्हा चढ़ा और खाना बन गया। लाल मिर्च डालकर और खूब बटकर आम की चटनी भी तैयार की गई।

घर में तीन थालियां, एक बटलोई और एक कटोरा था। दोनों बहुओं ने एक थाली में भोजन परोसा। चन्दा ने अपनी थाली में एक बालिश्त ऊंची रोटियां परसीं। उसकी मां ने पानी रखकर कौर तोड़ा। एक-आध रोटी

ही वे लोग खा पाये होंगे कि एकदम चन्दा के मकान में बीसों आदमी भर गये। वे कुर्की वाले और जमींदार के गुर्गे थे। भूखे कुटुम्ब के सामने से परसी थालियां पकड़ली गईं। स्त्रियां एक ओर से परसी थालियों को खींच रही थीं और दूसरी ओर से जमींदार के गुर्गे। भूख और नृशंसता में रस्सा-कशी थी। पीड़ित और अत्याचारी का युद्ध था। स्त्रियों और चन्दा के पेट में छिपी भूख ने तड़पकर अपनी सारी शक्ति हाथों को दे दी। आंखों की ज्योति ने हाथों को बिजली दी, और एक-एक आदमी उन भुक्खड़ों के हाथ से थालियां न छीन सका। तब और आदमियों ने औरतों के हाथों को एक ओर को खींचा और दूसरी ओर को थालियां खींची गईं।

थालियां, कटोरा और बटलोई चली गईं; पर उनके साथ भूख न गई। घर में मुर्दनी-सी छा गई। औरतें सिसक-सिसककर रोने लगीं। चन्दा की स्त्री की गोद का बच्चा, जो मातृस्तन से खून का पान कर रहा था, गिरकर रो रहा था, और रमल्ला परेशान एक दूसरी ओर पड़ा था।

चन्दा अब भी मजदूरी करता है। खेती-पाती से हाथ धो बैठा है; पर जमींदारी के प्रति उसके हृदय में बड़ी कटुता है। उसकी और उसके जैसे करोड़ों किसानों की कटुता उन्हीं के दिलों को जला रही है। दिल में एक गुबार-सा भरा है।

चन्दा से जब कोई और, विशेषकर कोई अहीर, उसकी कुर्की की चर्चा करने लगता है, तब वह अर्द्ध मुसकान से व्यंग्य में कह उठता है—"अरे ठाकुर, अबैनू (अब तक) भंगी पातरें उठावत ए—अब अहीर लोग मेरी झूठी थरिया उठावन लागे।"

झिड़के जाने पर वह हंस पड़ता है। कितना करुणापूर्ण है यह व्यंग्य!

रतना की अम्मा

दोपहर को भोजन के उपरान्त अपनी कुटिया पर पड़ा हुआ एक मित्र से बातें कर रहा था कि एक बुढ़िया कुटिया की दीवार से आकर खड़ी हो गई। उसे देखकर मैंने गम्भीरता से कहा—"डुको, जा खन रुपिया तो है ना, तुम नई-निकोर फरियाई चौंन लै लेउ।"

मेरे बोलने से बुढ़िया को कुछ साहस हुआ और अधीनता से उसने कहा—"तौ तौ लला, काम बनि जाइ। मोइ फिर काऊ के निहोरे नई कन्ने परिंगे। मोपै सैर कूं चलौ न जातु।"

यह सुनकर मैं तनिक चिंतित हो गया। मेरा खयाल था कि बुढ़िया रुपया लेना ही पसन्द करेगी। उस दिन मेरे पास कुछ था ही नहीं, और यह कहकर कि पैंठ के दिन आना, रुपया ले जाना, मैं उसे उस दिन टालना चाहता था; पर वह तो तन ढकने के लिए कपड़ा ही चाहती थी। रुपया की भूखी न थी। अपने फैलाये हुए जाल में मैं ही फंस गया। सिर खुजलाता हुआ उठा और बुढ़िया से बैठने को कहकर घर की ओर चला। यदि घर से कोई नयी ओढ़नी मिल जाय तो बात रह जाय, अन्यथा बुढ़िया यह समझेगी कि मैंने उसे झांसा ही दिया—यह सोचते हुए मैं घर पहुंचा। असहाय वृद्धा के लिए मुझे एक ओढ़नी चाहिए—यह प्रस्ताव सुनकर श्रीमती जी ने झटपट ट्रंक खोलकर एक ओढ़नी दे दी। मेरे हाथ में ओढ़नी देते हुए उनके मुखमंडल पर आन्तरिक सुख की ज्योति दीप्तमान हो गई। स्त्रियां स्वभाव से ही भावुक होती हैं, और फिर उस बुढ़िया के प्रति तो

गांव-भर की सहानुभूति थी। ओढ़नी लेकर मैं कुटिया पर आया और उस बुढ़िया को देकर कहा—"बैसाख में फिर लै जैओ।"

ओढ़नी को बगल में दबाकर बुढ़िया ने कहा—"पनिमेसुर करैं, तुम लला दूधन न्हाउ और पूतन फलौ। तुमाओ ढोटा (बेटा) जुग-जुग जियै।"

ढोटा कहते हुए बुढ़िया की आकृति वेदनासूचक हो गई। भीतर से कुछ तूफान-सा उठता प्रतीत हुआ। उसके दोनों नेत्र सजल हो गये। एक मोती-सा ढरका और उसके झुर्रीदार कपोल पर होकर जमीन पर गिरकर विलीयमान हो गया—पृथ्वी ने उसे पी लिया। ढोटा शब्द के उच्चारण से अतीत की स्मृति जागृत हो गई। उस स्मृति ने उसके हृदय के घाव को दुखा दिया, और उस घाव से आंसू के रूप में हृदय-रक्त की बूंद टपक पड़ी। बुढ़िया उठकर चली गई। उसके आशीर्वाद के ढोटा शब्द से मुझे बुढ़िया की मनोव्यथा का भान हुआ। मैं अपने मित्र की ओर बढ़ा, और बैठने भी न पाया था कि उन्होंने कहा—"यह बुढ़िया कौन है ? और 'तुमाओ ढोटा जुग-जुग जियै' कहते हुए वह रो क्यों पड़ी ?"

मैं—"वह बुढ़िया रतना की अम्मा है। कुछ वर्ष पूर्व उस पर गाज गिरी थी, और उस घटना का चित्र उसके सम्मुख आ जाता है, तो वह विह्वल हो जाती है।"

मित्र—"आखिर बात क्या थी ? जरा समझाकर कहिये।"

"एक दुःखान्त कहानी को सुनकर क्या करोगे ?" मैंने लम्बी सांस लेकर कहा। उन मित्र ने आग्रह किया, और मुझे कहना ही पड़ा।

अब से अठारह वर्ष पहले की बात है, रतना की अम्मा अपने पति धर्मजीत के साथ इस गांव में आयी थी। उस समय रतना छः-सात वर्ष का अबोध बालक था। रतना की अम्मा का इस गांव में आने का कारण था—एक जमींदार का अत्याचार। जमींदार धर्मजीत से झूठी गवाही दिलवाना चाहता था। धर्मजीत था तो जात का चमार, पर बड़ा ही धर्मभीरु था, और फिर वह बाल-बच्चेदार आदमी भी था। जमींदार ने जब उसे बहुत तंग किया और गवाही न देने पर बेदखली तथा खेत कटवा लेने की

धमकी दी, तब धर्मजीत ने अपनी गृहिणी से अन्तिम परामर्श किया। रतना की अम्मा ने आवेश में उत्तर दिया—"तो तुम झूठी गंगाजली उठाइ जाउगे? रतना की लंगकूं देखौ, बाउकैं रतना के संग कौ लरिका है। तुमाई गवाई सूं बाइ जेल है गई, तो सरापु परैगो।"

धर्मजीत स्वयं गवाही नहीं देना चाहता था, फिर जब उसको अपनी स्त्री का सहारा मिल गया, तब तो उसका साहस दूना हो गया, शरीर से दोनों प्राणी इतने मजबूत थे कि आसपास उनकी-सी हड्डी वाला कोई व्यक्ति न था। वे इस युग के न थे, पर जमींदार की शक्ति के सम्मुख उस दम्पति की एक न चली। आखिर हार मानकर अपनी मौरूसी काश्त छोड़ कर धर्मजीत अपनी स्त्री-सहित यहां आ बसा, और अपने भरे-पूरे घर को छोड़, अपने बाहुबल के भरोसे नवीन जीवन बिताने लगा।

गांववालों की बहुमूल्य पूंजी है बढ़िया स्वास्थ्य। सो उस पूंजी के वे दोनों धनी थे। धर्मजीत में इतना दम था कि मन-डेढ़ मन की गठरी को वह अपने आप उठा लेता। हल जोतने और कुढ़ी करने में (गेहूं और जौ बोने के समय हल चलाने में) वह अपना सानी न रखता था। जब गांव में साधारण मजदूरी दो आना होती, तब कुढ़ी करने के लिए धर्मजीत को लोग आठ आना और खुराक पर ले जाते। रतना की अम्मां घास काटने, कपास बीनने तथा अन्य कामों में व्यस्त रहती। चींटियां जिस प्रकार एक-एक दाना एकत्र करके ढेर जमा कर लेती हैं, उसी प्रकार उन दोनों ने थोड़ा-थोड़ा बचाकर कुछ जमा कर लिया। दो वर्ष पीछे उन्होंने एक जोड़ी बैल मोल लिये और बनिये के यहां घी कटऊं करके एक भैंस ले ली। दोपहर को जब धर्मजीत खेत पर से आता तब नीम के नीचे मकान के बाहर बैठ जाता। रतना की अम्मा उसे हुक्का भर देती। मैंने उसे बीसों बार उस समय हुक्का पीते देखा है। धुएं का कश खींचकर जब वह धुएं को ऊपर निकालता, तब मालूम होता था, मानो वह थकान को शरीर से निकाल रहा है और दार्शनिक की भांति अतीत की स्मृति को उपेक्षा की दृष्टि से देख रहा है। उसके पुराने कष्ट धुएं की भांति ही उड़ गये थे। हुक्का गुड़गुड़ाते देर यदि हो जाती, तो रतना की अम्मा भीतर से आती और प्रेमजन्य क्रोध में कहती "रोटीऊ खाउगे, कै जा धुआं सूंई पेट

भरोगे !"

हुक्का उसे देते हुए धर्मजीत कहता—"अरे, तो ना देर है गई ।"

इसी प्रकार उनके दिन कटने लगे। घर भरपूर था। उधर रतना भी बबूल की भांति बढ़ता चला आ रहा था। दो नदियां जिस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों से निकलकर एक स्थान पर मिलती हैं और संगम बनाती हैं, स्त्री और पुरुष भी कहीं जन्म लेते हैं, और विवाह-संगम में आकर मिलते हैं, और एक होकर अधिक शक्ति से अपनी जीवन-धारा बहाते हैं। समुद्र में गिरने से पूर्व अनेक नदियां, डेल्टा-क्षेत्र में, कई भागों में बंट जाती हैं, और उनकी धारा में वह प्रणय-वेग नहीं होता, जो युवावस्था और अधेड़ावस्था में होता है। धर्मजीत और रतना की अम्मा भी बुढ़ापे में रतना की बढ़ती जवानी देखकर सन्तुष्ट और शान्त थे। वे जानते थे कि वे पके आम की भांति तनिक वायु के झकोरे से टपक पड़ेंगे, इसलिए उन्हें कोई विशेष चिन्ता न थी। जिसकी—रतना की—चिन्ता थी, सो उसके लिए उन्होंने सब कुछ कर दिया था। बाल-बच्चों का सुप्रबन्ध किये बिना यह शरीर छोड़ देना बिना टिकट के रेल में बैठना है। रतना की अम्मा और धर्मजीत अपना टिकट कटा चुके थे। उन्होंने उसके लिए घर बना दिया था। विवाह कर दिया था। घर पर भैंस और बैल थे। किसी का कुछ देना न था और सबसे अच्छी बात यह थी कि रतना खेती के काम में प्रवीण हो चुका था। बर्त्तन बनाने, बीज बोने, कुआं खोदने और पशुओं की छोटी-मोटी बीमारियों की ओषधियों का भी उसे ज्ञान था। आसपास के लोग अब परामर्श के लिए बूढ़े धर्मजीत को न बुलाते थे, वरन रतना को। धर्मजीत अब उस बरगद की पुरानी पींड़ के समान था, जो समय पाकर खोखली हो जाती है, और उसके आसपास उसी में नवीन पींड़ें निकल पड़ती हैं। गांव में या पड़ोस में कहीं कुआं होता, तो रतना को जरूर बुलाया जाता। मजदूरी तो वह करारी लेता था, पर जिस कुएं को रतना करता, उसमें कोई धोखे की बात न होती थी। साथ में जहां कहीं रतना कुआं करने जाता, धर्मजीत यों ही समय काटने के लिए वहां चला जाता और ऊपर से कुएं में भीतर काम करने वालों को सलाह दिया करता और अपनी जवानी की कारगुजारियों का वर्णन किया करता।

उसकी बातों से मनोरंजन के अतिरिक्त कुआं करने वालों को प्रोत्साहन भी मिलता। इसी प्रकार धर्मजीत का बुढ़ापा आ रहा था, और उसका रोपा हुआ पौधा—रतना—उसके देखते-देखते एक विशाल वृक्ष हो गया।

संसार में प्रत्येक पार्थिव वस्तु की आयु है। केवल समय का अन्तर है। आम जब पक जाता है, तब वायु के तनिक से झकोरे से गिर पड़ता है, और यदि वायु का झकोरा न भी आए, तो भी वह टपक पड़ता है। डंठल गलकर शक्तिहीन हो जाता है। धर्मजीत की आयु-रूपी रस्सी गल गई, और वह एक दिन के बुखार से चल बसा। बुढ़िया रोयी, पर एक संन्यासिनी की भांति। रतना के सम्मुख—अपने विवाह-जीवन के एकमात्र फल के सम्मुख—वह धर्मजीत के विरह को एक दार्शनिक की भांति भूल गई, और बड़े-बूढ़ों की तरह वह घर के काम में रत हो गई।

देश में चारों ओर सूखा की चर्चा थी। मेह न तो समय पर ही बरसा और न काफी बरसा। खरीफ की फसल सब विगड़ गई। बाजरा और ज्वार के पौधे बाल निकलने से पूर्व ही सूख गये! अन्न और चारे का घोर कष्ट हो गया। सबसे बड़ी आफत यह हुई कि सूखा पड़ने से रबी की फसल भी नहीं बोयी जा सकी। कुओं से खेतों की परेवट करके बीज बोना बिरलों का ही काम था, पर जिन किसानों के पास बैल थे, और जिनको मजदूर नहीं करने थे, वे परेवट में लग गये। कुओं की मरम्मत और नवीन कुआं बनाने में किसान लगे हुए थे, और रतना की मांग चारों ओर से थी। प्रतिदिन किसानों की टोली-की-टोली रतना के घर पर एकत्र होती और उसे अपने-अपने कुएं पर ले जाने को प्रोत्साहन देती, पर रतना की अम्मा सबसे पहले आने वाले को ही वचन देती।

एक दिन एक किसान ने रतना की मां को आधी रात को ही जा जगाया। बुढ़िया ने बिगड़कर कहा—"अए निगोड़े सोमन ऊं देइगौ कि नाइ। कल्लि के हारौ-नीरौ बु (रतना) डरौ ऐ। आजु बु कऊं नई जाइगौ।"

किसान—"तो मेऔ कुआं जौंई रहि जाइगौ। आजु धर्मजीतु डोकर

होते, तो सिबको काम छोड़िकें मे औकाम कर्त्तें ।"

धर्मजीत का नाम सुनकर बुढ़िया कुछ लज्जित-सी हुई, और कहा—"तौ जा, तेरैंई बु आवैंगो ।"

दिन के दस बजे के लगभग रतना ने कुदाल और बेलचा उठाया, और घर से बाहर ज्यों ही उसने पैर दिये कि छींक हुई। बुढ़िया ने झपटकर रतना को पकड़ा और कहा कि चाहे कुछ हो, आज कुआं करने न जा। छींक का अशकुन हुआ है, पर रतना ने न माना और कहा कि ऐसी छींकें तो रोज होती हैं। छींकों से दुनिया के काम थोड़े ही रुक सकते हैं। बुढ़िया ने सशंकित दृष्टि से रतना को जाते देखा।

कुआं खोदते-खोदते शाम होने आयी थी, पर अभी सोत न लगा था। रतना ने कुआं के भीतर से कहा कि तेज बैल मंगाकर एक घंटा और काम करो तो सोत लग सकता है, नहीं तो कल का सारा दिन लग जायगा और कुआं का पानी भी न टूटेगा।

नये बैल मंगाये गये, और जोरों से तार होने लगी। रतना ने अपनी बलिष्ठ भुजाओं से कुएं को खोदना प्रारम्भ किया। बैल तेज थे। धकापेल मच गई, पर अभी पन्द्रह मिनट भी इस गति से काम न हुआ था कि 'खोंगा' हो गया। जल्दी में बर्त गिर्री से उतर गई। पुर का बोझ भारी था। बैल लौट पड़े। जुए की सैलें टूट गईं और सन्नाटे के साथ जुए की ठोकर गिर्री से लगी। कुएं का नया काम था—और गरीब किसान का काम था। गिरौंड़ा (वह लकड़ी जिस पर गिर्री फिरती है) टूट गया। धड़ाम से गिर्री कुएं में गिरी। कुएं से एक कराहने की आवाज आयी।

डॉक्टर बुलाया गया, पर कुछ न हुआ। रतना की लाश श्मशान भेज दी गई।

उस दिन से रतना की अम्मा पहले की रतना की अम्मा नहीं है। उसने पुत्र-शोक में पन्द्रह दिन तक अन्न-जल नहीं किया। दो बार बेटे की याद में रेल से कटकर प्राण देने की चेष्टा भी की। उसके घाव पर अब ऊपर से पपड़ी-सी छा गई है, पर भीतर वह घाव वैसा ही है। उसने

अपनी 'किश्ती खुदा पर छोड़ दी है' और 'लंगर भी तोड़ दिया' है । रतना की बहू भी उसे छोड़कर चली गई है । पर जीवन उसे अभी नहीं छोड़ता । रतना की अम्मा अब सबकी दया की पात्र है । प्रतिदिन उठकर वह यही प्रार्थना करती है कि भगवान् उसको शीघ्र ही धर्मजीत और रतना से मिला दे ।

इकाई का सौदा

स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान, वास्तव में एक ही शक्ति के नाम हैं। परिस्थिति के अनुसार उस शक्ति—आप उसे भावना भी कह सकते हैं—के दो नामकरण किये गये हैं—वास्तविक तत्त्व के समान जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप में एक ही शक्ति है। हां, नाम भिन्न हैं, प्रकाश (Light) और गर्मी (Heat) की भांति जो बिजली की एक विशेष इकाई में दोनों एक ही चीज है।

और यह मानवी पुतला भी तो एक इकाई है, जिसमें वास्तविक तत्त्व के गुण निहित हैं और जो, अवसरानुसार, स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान का प्रदर्शन करता है।

यह बात भी ठीक है कि सभी इकाइयां एक-सी नहीं होतीं। कोई सूखी बारूद के समान होती हैं जो तनिक-सी चिनगारी से भड़क जाती हैं। कुछ इकाइयां भीगी बारूद-सी होती हैं और कुछ बिलकुल निस्तेज—जिन्दा मुर्दा—बस चलते-फिरते कीड़े-मकोड़ों के समान। सुधार की उनमें भी सम्भावना है; पर समय और सुधारक चाहिए। लेकिन संसार आकर्षित होता है—सजीव इकाई-मानवी-डाइनमो से।

"हुजूर, बहुत समझाया पर संकट ब्राह्मण मानता ही नहीं।"

"क्या कहता है ?"

"यही कहता है कि वोट देने और जमींदारी से क्या सम्बन्ध ?

जमींदारी अपना लगान ले वक्त पर । उसके खेत हम बिगाड़ते नहीं, उससे लड़ते नहीं। लगान की अदायगी में कभी चूक नहीं; फिर भी जमींदार साहब हमें क्यों दबाते हैं वोट देने को। चलते बैल में आर क्यों लगाते हैं ?"

"पर तुमने कहा नहीं कि है तो तू रियाया।"

"मालिक, सब कुछ कहा। मैंने खूब समझाया कि आपे से बाहर न हो। जमींदार मालिक है, और काश्तकार रियाया। सौ तरह से काश्तकार को दबना पड़ता है। जमींदार के खिलाफ जाने के मानी हैं चलती रेलगाड़ी के सामने खड़े हो जाना। जिस-जिस ने मालिक की हुकूमत नहीं मानी वह बर्बाद हो गया। मालिक जिसके लिए कहते हैं उसे ही वोट दो नहीं तो फिर लेने के देने पड़ जायेंगे।"

"और वह तब भी नहीं माना ?"

"नहीं, हुजूर, नहीं माना और उल्टी लाल-पीली आंखें दिखाकर उसने कहा कि मालिक गये गधैया की···मेरी उनसे सात भांवरें नहीं पड़ीं जो जमींदार को मालिक बताते हो। वोट हमारे मन में आयगी, उसे देंगे। आज वोट मांगते हैं, कल हमारी स्त्री मांगेंगे। मांगें अपना लगान और उसके न देने पर करें बेदखल।"

"और उल्लू के पट्ठे, तू ये बातें यों ही सुनता रहा। तेरे ही जैसे नालायक जिलेदारों के कारण हुकूमत बिगड़ गई।"

"अन्नदाता, मेरी उससे फौजदारी होते-होते बची। आपका नमक खाया है। मेरा रोम-रोम मालिक की कृपा से बना है। आपकी बेइज्जती कहीं देख सकता हूं ? गुलाम की आंखें और कान फूटें जो मालिक की बेइज्जती देखें और सुनें।"

ये बातें हुईं जमींदार ठाकुर विक्रमसिंह और उनके जिलेदार सूबेदारसिंह में, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड चुनाव की सरगरमी के दिनों में। एक तो चुनाव के दिनों में लोगों के दिमाग की हालत सन्निपात के रोगी के समान हो जाती है, जो कुछ न कुछ बकता ही रहता है। सन्निपात के रोगी और कनवेसर में अन्तर केवल इतना है कि सन्निपात का रोगी ज्वर से पीड़ित होता है, और कनवेसर चुनाव-ज्वर से। और फिर कहीं जमींदार कनवेसर

हुआ और वोट मांगने हुए अपने काश्तकारों से, तो फिर वह वोटर को अपनी निजी सम्पत्ति समझता है, जिसका प्रयोग वह मनमाने ढंग से करने का इच्छुक होता है।

ठाकुर विक्रमसिंह का दबदबा एक तो सम्पन्न जमींदार होने के कारण यों ही था। रुपये की ताकत को वह खूब समझते थे। किसी की अकड़फूं काश्तकार को पुलिस से पिटवा देने की फीस थी—बस पच्चीस चांदी के टुकड़े। प्रत्येक चीज का उनके यहां मोल था। उन्हें रायबहादुरी ही मिली थी दस हजार खर्च करने से और वह खुल्लमखुल्ला कह भी देते थे कि जिसके पास रुपये की ताकत हो उसके पास सब कुछ है। उनके जीवन के अनुभव का मूल मंत्र था—'रुपये की बदौलत सब कुछ'। यह भावना उनकी शक्ति का आधार थी—उस दीपक के समान जिसके सहारे घर का बूढ़ा अंधेरे में इधर-उधर चल-फिर सकता है, और जिसके उठा देने से वह बेबस होकर अंधकार में पड़ा रहता है।

ठाकुर विक्रमसिंह जानते थे कि अपने विरोधी वोटरों को किसी न किसी दाव से वे पछाड़ लेंगे। दो-चार दस-बीस रुपये से ठीक हो जायंगे और दस-बीस वेदखली की धमकी में ऐसे आ जायेंगे जैसे बच्चे बन्दर-घुड़की में। दो चार खेत काटने और जानवर बाड़े में बन्द कराने से काबू में आ जायेंगे। कुछ को रिश्तेदारों से ठीक करा लिया जायेगा। इसी ढंग से उन्होंने पिछले पांच चुनाव जीते थे। इस बार के चुनाव में उनको संकटप्रसाद ब्राह्मण के विरुद्ध शिकायत ही नहीं वरन् द्वेषपूर्ण घृणा भी थी। और उसका कारण संकटप्रसाद की केवल हेकड़ी ही नहीं था। अपने काश्तकार की हेकड़ी को पहले तो विक्रमसिंह ढीला कर देते थे और ढीला न कर सकने पर उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा करते—हाथी के समान जिस पर दूर के कुत्ते भौंका ही करते हैं। पर द्वेषपूर्ण घृणा का कारण और ही था। वोट के मामले ने तो उसे प्रज्वलित कर दिया था। घृणा आत्मा का यक्ष्मा रोग है। ठाकुर विक्रमसिंह की आत्मा, पवित्रता की दृष्टि से, सहरी चिराग के समान थी जिसकी कुछ ही घड़ियां शेष होती हैं। संकटप्रसाद के प्रति घृणा और द्वेष का मुख्य कारण था जमींदारी प्रथा के विषय में उसका यह अटल विश्वास कि जमींदारी प्रथा

भारतीय संस्कृति, भारतीय इतिहास और आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं के विरुद्ध है। चुनाव के दिनों में संकटप्रसाद ने जमींदारी प्रथा के विरुद्ध अनेक तुकबन्दियां बनाकर लोगों को सुनाई थीं और एक कनवैसर से तू-तड़ाक होने पर उनको कुरमी भी कह दिया था। संकट ने इस प्रकार दुधारी तलवार से उन पर हमला किया था। चुनाव की सरगरमी में जमींदारी प्रथा पर कुठाराघात करने और उनकी जात पर अंगुश्तनुमाई करने से संकटप्रसाद ने ठाकुर विक्रमसिंह को घायल शेर की भांति क्रोधित कर दिया था और बदले की भावना ठाकुर विक्रमसिंह के हृदय में हिलोरें ले रही थी। संकटप्रसाद समय पर लगान देता था। इसलिए बकाया लगान का पेच उस पर जबरदस्ती नहीं चल सकता था। उसका साथ देने वाले भी कुछ आदमी थे, इसलिए फौजदारी की बात भी समझ में न आती थी। हां, पुलिस के कुत्ते उस पर हुलकारे जा सकते थे; पर वे कुत्ते भी संकट से चौंकते थे। पर काश्तकार-रूपी बकरे की खैर कब तक मनाई जा सकती थी। जमींदारी के जाल में काश्तकार कभी न कभी फंस ही जाता है। खेत की मेंड़ बढ़ा ली है, खेत में झोंपड़ी बना ली है जिससे काश्त को हानि पहुंचती है, मकान में बिना आज्ञा के दरवाजा खोल लिया है, खेत में पेड़ लगा लिये हैं—ऐसी ही बातों पर किसानों पर बेदखली और अन्य मुकदमे चलाये जाते हैं। ठाकुर विक्रमसिंह इन सब उपायों को ऐसे सोच रहे थे जैसे चिड़िया पकड़ने के लिए बिल्ली घात लगाती है और इस अन्दाज में पूंछ हिलाती है कि चिड़िया उसकी उछाल की मार में आ जाए। इतने फंदों से बचकर किसान-रूपी चिड़िया कैसे निकल सकती है—ऐसे ही विचारों में लीन ठाकुर विक्रमसिंह ने कई घंटे बिता दिए। पनडुब्बा जैसे पानी में डूबकर मोती की सीप ढूंढ़ता है वैसे ही ठाकुर विक्रमसिंह ने विचारमग्न होकर किसी योजना-रूपी मोती को ढूंढ़ा। कभी एक योजना को आगे रखते और कभी दूसरी को। थोड़ी देर बाद उसे भी रद्द कर देते। कभी फौजदारी करके संकटप्रसाद को ठीक करने की तजवीज सोचते और कभी पुलिस द्वारा कोई मुकदमा लगाकर उसे सताने की योजना बांधते और फिर थोड़ी देर बाद खेत कटाने की तरकीब पर आ डटते और सिर हिलाकर फिर और कुछ सोचने लगते।

मन की डांवाडोल स्थिति में किसी निर्णय पर आना बड़ा कठिन होता है। निर्णय-नैया विचारों की तरंगों पर इधर से उधर कंपती-सी फिरती है और किसी किनारे पर नहीं लगती। अमुक योजना ठीक होगी और स्थिर बुद्धि से सफलता की झलक-सी भी दिखाई पड़ती है। थोड़ी देर बाद अस्थिरता के बादल पूर्व योजना को आच्छन्न कर लेते हैं और फिर कोई नयी परिस्थिति सूझती है। ठाकुर विक्रमसिंह की मानसिक दशा भी कुछ ऐसी ही थी, पर अन्त में उनके निर्णय-योजना की नाव किनारे लगी तूफान में पड़ी नाव के समान जो नाविकों के कौशल के कारण नहीं, वरन् तूफान की अनिश्चित गति के कारण ही, भाग्यवश, किनारे लग जाती है। ठाकुर विक्रमसिंह ने बुद्धि और रुपये के बल से संकटप्रसाद को परास्त करने का निश्चय किया। उनके मन का विश्लेषण थोड़े से शब्दों में यों किया जा सकता है—शेर कितना बलशाली है; पर लुक-छिपकर ही अपने शिकार पर टूटता है। और फिर किसी व्यक्ति को बुरी मौत मारना हो तो उसे गरीब बना दो। सौ ऐबों का एक ऐब गरीबी है। वह सौ बीमारियों की एक बीमारी है। लाखों में दो-चार गरीबों के ही नैतिक मेरुदण्ड होता है। गरीब लोग जिनकी तिल्लियां बढ़ी हुई हैं, जिनके शरीरों में कर्ज और भूख के घुन लगे हुए हैं वे विद्रोह तो क्या, मुकाबला भी नहीं कर सकते। हां, आवेश में आकर क्षणिक युद्ध करके मर सकते हैं। ठाकुर विक्रमसिंह मनोविज्ञान के पंडित न थे, पर भूख और अत्याचार के तीर छोड़ने में निपुण थे। बीसों बार ऐसे तीर छोड़ चुके थे और उनके तीर निशाने पर पड़े थे। संकटप्रसाद पर वही अमोघ अस्त्र चलाने का निश्चय किया। मुकदमेबाजी में उसे थकाकर बेहाल करा दिया जाय, फिर वह स्वयं ही घुटने टेक देगा। जब लड़ते-लड़ते थक जायेगा तब उसका जमींदारी प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन—उनकी हुकूमत के विरुद्ध प्रचार स्वतः ही मिट जायगा। कुएं में पानी ही न होगा तब कोई पानी वहां से कैसे निकालेगा! जब स्रोत ही सूख गया तब धार तो खुद ही बन्द हो जायेगी।

ठाकुर विक्रमसिंह अपने सरकश काश्तकार संकटप्रसाद को घुला-घुलाकर—परेशान करके—कुत्ते की मौत मारने का स्वप्न देखने लगे।

एक मुकदमा दायर होगा, उसमें उसके हजार-पांच सौ खर्च होंगे और तब फिर दूसरा और फिर तीसरा और इसी प्रकार मुकदमों का तांता पुर जायगा—एक के बाद दूसरा। फलस्वरूप संकटप्रसाद की खेती बिगड़ेगी। रुपया कोई कर्ज न देगा। साथी साथ छोड़ देंगे और रुपये और साथियों के साथ छोड़ने से उसका साहस, उसके विचार, उसका विद्रोह और उसके घरवाले भी साथ छोड़ देंगे और संकट का चलता-फिरता कंकाल-सा ही दिखाई देगा जिसकी मुखाकृति पराजय, याचना, करुणा और दीनता की परिचायक होगी। कौवे को मारकर खेत पर टांगने से और कौवे नहीं आते। इसी प्रकार संकट की आंखें देखकर—वे आंखें जिनमें कभी विद्रोह और सरकशी की ज्वाला प्रज्वलित थी—लोगों को सबक मिलेगा। जब अपने भूखे-प्यासे बच्चों की उंगलियां पकड़कर गांव की गलियों में सिर नीचा किये वह निकलेगा तब वहां की धूल तक उसे धिक्कारेगी। इससे बढ़कर उसकी पराजय तथा हमारी हुकूमत का प्रमाण और क्या होगा! ऐसे ही सुख-स्वप्नों में ठाकुर विक्रमसिंह ने चुनाव के दिन बिताये।

संकट के ऊपर बकाया लगान की डिग्री हुई और उसने वह चुका दी। लगान को भविष्य में मनीआर्डर से भेजने का निश्चय किया और किसानों में उस बात का प्रचार किया कि लगान-वसूलयाबी की रसीद न देना गैरकानूनी बात है, लगान जमींदार के पास मनीआर्डर द्वारा भेजना चाहिए।

ठाकुर विक्रमसिंह ने ओषधि तो दी थी रोग-निवारण के लिए—संकट को ठीक करने के लिए, पर उसका असर हुआ उल्टा। समझते थे कि पहले वार में ढीला हो जायेगा और उसकी अकड़ रफू हो जायेगी; पर दुबारा लगान देने के कारण चोटिल सांप की भांति वह फुफकारा—और भी जोरों से जमींदारी प्रथा के विरुद्ध कहने-सुनने लगा। उधर ठाकुर विक्रमसिंह ने अपने दूसरे तीर को संभाला।

यों तो ठाकुर विक्रमसिंह और संकटप्रसाद की उसी दिन से ठन गई थी

जिस दिन उसने वोट देने से इनकार करने के साथ जमींदारी प्रथा पर भी हमला किया था। पर बकाया लगान की डिग्री की अदायगी के बाद दोनों ओर से पतंगों के-से पेच पड़ गये थे। ठाकुर विक्रमसिंह की इज्जत की पतंग हुकूमत और रुपये की डोरी से उड़ रही थी और संकटप्रसाद की पतंग सच्चाई की डोरी से। अब तक दूर से ही पतंगबाजी थी और अब पेच पड़ गये थे। एक झटके में ही संकटप्रसाद की पतंग को काटने के लिए विक्रमसिंह ने अपनी डोरी में रुपये और लाठी के जोर का माझा लगा रखा था और अवसर पाते ही एक ही झटके में संकट की पतंग, 'वह काटा' की ध्वनि से काटने के इच्छुक थे।

संकट भी सतर्क था और अपने मित्रों की नजर से ओझल न होता था। वह जानता था कि गांव का सबसे बड़ा हथियार है मार-पीट। देहात में रहकर जो कमजोर हुआ, जिसने आत्मरक्षा के लिए प्राण हथेली पर न वह रखे, दबैल होकर रह सकता है। दूसरों का हित वह तभी कर सकता है, जब तन, मन, और धन में से कम से कम एक का वह प्रयोग कर सकता हो। गांवों में चर्चा थी कि संकट को 'काल मखरियां' घेरे फिरती हैं। ठाकुर विक्रमसिंह जैसा जमींदार हुकूमत में कमी न आने देगा। संकट के कारण किसान उद्दण्ड होते चले जा रहे थे। बेगार और नजर-भेंट देने में आनाकानी करने लगे थे। कमजोर और दब्बू किसान तक भूसा, घी और दूध देते समय कह देते कि ले लो भाई हम से, हम तो किसी लायक नहीं; पर हुकूमत तो हम तब ज़ानें जब संकटप्रसाद ब्राह्मण से कुछ ले सको। सिपाही और जिलेदारों से ये समाचार ठाकुर विक्रमसिंह के कानों तक पहुंचते और जले पर नमक का काम करते। लम्बी सांस खींचकर वे खून का-सा घूंट पीकर रह जाते। पेच तो पड़ा ही हुआ था। तैयारी भी काफी थी। सब प्रबन्ध लैस था। बस अवसर की प्रतीक्षा थी।

'पड़ें सा··· के बेभाव की' की ध्वनि से ठाकुर साहब के गुर्गे एक दिन संकटप्रसाद पर टूट पड़े। किसी ने हाथ पकड़े और किसी ने पैर। चमर-छत्र से उसकी पूजा की गई। कोई कान खींचकर जूते जमाता तो कोई मूंछ पकड़कर धौल रसीद करता और कोई व्यंग्य से कहता—"कहो

बेटा ! और करोगे ठाकुर साहब की बुराई !" जितने मुंह उतनी ही बातें थीं। "दामाद को दक्षिणा दो । कहो, है जमींदारी में जोर"—आदि बातों से भी उसे अपमानित किया गया ।

गुदगुदी से सब न हंसें, कान खींचने से सब न चीखें; पर धधकते कोयले के रखने से—विशेषकर अचानक रखने से—सभी तिलमिला उठेंगे । जूते पड़ने और गाली-गलौज से अपमानित होने के कारण संकट के शरीर ही नहीं वरन् उसकी आत्मा पर भी भकभकाती लोहे की मेख रख दी गई। संकट की आत्मा चीख उठी । उसने त्राहि-त्राहि नहीं कहा । डूबकर अथवा विष-पान कर उसने अपना अन्त नहीं किया वरन् बदले की भावना उसके रोम-रोम में दौड़ गई । उस पर बदला लेने की बिजली गिरी । वह अपने आपको एक विचित्र प्राणी महसूस करने लगा—किसी दूसरे जगत् का प्राणी जिसकी मनोवृत्ति संसार के अन्य लोगों से भिन्न हो ।

ठाकुर विक्रमसिंह की खुशी का ठिकाना न था। उनके खयाल से उनकी गोली निशाने पर पड़ी थी । अपने गुर्गों को उन्होंने दावत दी; और मुकदमेबाजी के लिए पन्द्रह हजार रुपये अलग रख छोड़े । ठाकुर साहब तो मुकदमे के व्यूह में संकट को घुसाना ही चाहते थे । हुकूमत की रक्षा के लिए उन्होंने अपने सुख-उपवन के एक कांटे को उखाड़-सा डाला था । जड़ें खोखली कर दी गई थीं और मुकदमे के गवाहों की तैयारी पूरी हो गई ।

पर विधाता की गति निराली है। सरकारी अदालत में संकट ने कोई मुकदमा दायर नहीं किया । हां, उसने अपने मन की अदालत में मुकदमा दायर कर लिया था। जमींदारी प्रथा के विरुद्ध उसका आन्दोलन बन्द हो गया । पहाड़ी मार्ग से चलकर मैदान में नदी कितनी शांत हो जाती है, संकट की विचारधारा भी वैसे ही शान्त थी । पहले तो उसने दो मास का व्रत किया—बस एक बार दूध पीता, रोज चंडी-पाठ करता, देवी के मन्दिर में घण्टों बैठा रहता। कुछ लोग समझते थे कि उसे उन्माद हो गया है।

संकट की इस दशा से सभी खुश थे । जमींदार भी खुश था कि थोड़े से ही जूतों से मनोकामना पूरी हो गई और संकट भी बहुत प्रसन्न था,

क्योंकि जंगल में भले आदमी की भांति उसे प्रशस्त मार्ग मिल गया था। अर्जुन की भांति उसे भी अपना उद्देश्य-बिन्दु ही दृष्टिगोचर हो रहा था। जब कभी जमींदार के आदमी उसे चिढ़ाते कि और जूते लोगे और किस भाव लोगे, तब उसकी चेष्टा उस चट्टान की-सी हो जाती जिससे फुंकारती हुई समुद्र की लहरें टकराती हैं और कुछ न करके लौट जाती हैं। व्यंग्य-वचन सुनकर संकट हंसी से उत्तर देता—"अभी तो उस सौदा के दाम भी नहीं पटे, पहले उन जूतों के दाम चुका लेने दो।" संकट की शान्ति एक विकट तूफान की पूर्वाभास थी। लोगों को यह थोड़े ही मालूम था कि संकट वह इकाई है जो अपना पृथक् व्यक्तित्व रखता है। कांटे की भांति, जो दबाये जाने पर या तो टूट जाता है या फिर भीतर चुभ जाता है। उसके व्यक्तित्व में स्वाभिमान और जीवन पर्यायवाची थे। बात के ऊपर मरने वाला, जीवन को खिलवाड़ समझने वाला, हजारों से अकेला टक्कर लेने वाला संकट अपनी पाठ-पूजा में सोलह मास वैसे ही लगा रहा, जैसे सूर्य प्रतिदिन उदय और अस्त होता है।

होली के दिन दिवाकर ने पीठ फेरी। संध्या आयी। गांव में चहल-पहल थी। लड़के होली बढ़ाने में जुटे थे। गरीबों के घर से तेल के पुजापे की गन्ध आ रही थी। वर्ष का अन्तिम दिन था। खेतों में नाज था। ढोलक और मजीरों से मुखरित होकर देहात की भावना फूट-फूटकर निकल रही थी। होली थी। होली के हर्ष में लोग अपने दुखों को थोड़ी देर के लिए भूल रहे थे, उस दुखी की भांति जो शराब और पैमाने को देखकर आह्लादित हो जाता है और एक प्याले में गम गलत करता है।

ठाकुर बिक्रमसिंह के यहां नाच-तमाशे का रंग जम रहा था। भंग अलग घुट रही थी तो कड़ाव अलग चढ़ रहे थे। साज संभालने की ध्वनि पास के कमरों में आ रही थी। नर्तकियां श्रृंगार कर रही थीं।

और संकट? संकट भी संभल रहा था नाच के लिए। नाच के लिए? हां, नाचने के लिए—ताण्डव नाचने लिए। उसने अपनी गंड़ासी पत्थर पर

पैनी की। उसे चूमा। उसे लेकर वह चला। लोगों ने पूछा, "कहां जाते हो?" बोला, " कुरमी का सिर काटने।" सिर काटने वाला ढोल बजाकर कहता नहीं, इसलिए संकट की बात को लोगों ने पागल का प्रलाप समझा। पर संकट बाज की भांति अपने शिकार पर टूट पड़ा। बगीची में ठाकुर विक्रमसिंह संध्या करने बैठे ही थे कि इतने में ही उनकी जीवन-संध्या का पैगाम लेकर संकट आ गया और दूर से ही उसने ललकारा--"संभल जा, तेरी जूतियों का दाम भुगताने आया हूं।"

विक्रमसिंह की कमजोर आत्मा—अत्याचार और पाप से पली आत्मा—घबरा गई। एक ही वार में विक्रमसिंह का सिर धड़ से जुदा हो गया। खून के फव्वारों से जमीन तर हो गई। संकट छाती पर बैठ गया। गरम खून से उसने माथे और भुजदण्डों पर तिलक लगाये। कटे सिर को उठाकर धड़ पर रखा, जीभ को खींचकर काटा और बगीचे की भगवती पर चढ़ाया। साड़-साड़ की चोट से उसने शव से दोनों बांहें काटीं। अपनी जेबें मास के टुकड़ों से भरीं। सिर उठाकर उसने होली पर चढ़ाया। अपने खेतों पर गया और प्रत्येक खेत में उसने मांस के टुकड़े गाड़े और प्रार्थना की कि 'हे धरती माता, तेरी ही छाती पर मेरा अपमान हुआ था और अब तुझे मैं महिषासुर के मांस के टुकड़े भेंट कर रहा हूं। आज का दर्शन कदाचित् अन्तिम दर्शन हो।'

अगले दिन गंड़ासी और कटी भुजा को लेकर संकट प्रसन्न वदन अदालत में हाजिर हो गया।

शीर्षकहीन कहानी

शीश-रहित रुण्ड, त्याग-रहित कीर्ति और शीर्षकहीन कहानी सजीव नहीं कहे जाते। और फिर शीर्षकहीन कहानी कैसी? कहानी का कुछ-न-कुछ शीर्षक तो होना ही चाहिए। न होने पर कोई उचित शीर्षक गढ़ लेना चाहिए, अन्यथा शीर्षकहीन कहानी की दशा नाम-रहित मनुष्य के समान होती है। शीर्षक का काम नामकरण के अतिरिक्त किसी भाव-व्यंजना अथवा किसी विशेष प्रभाव की महत्ता को प्रकट करना है। शीर्षक तो किसी लेख—विशेषकर कहानी—के लिए वह मिकनातीस है, जो पाठकों के मन को वरवस अपनी ओर खींच लेता है। चुभते और उचित शीर्षक पर नजर पड़ते ही पढ़ने वाले का मन विंधा रह जाता है। लेख की पहली चोट और प्रथम आकर्षण शीर्षक में ही है।

यह वात नहीं कि हम शीर्षक के कायल न हों। वेहद कायल हैं, और इस कहानी के शीर्षक के लिए एक सप्ताह से सोच रहे हैं, 'कफन की कील', 'सोज,' 'जीवन-पथ', 'अनिल-किरण', 'खून की होली' आदि अनेक शीर्षक स्मरण हो आये; पर दिल किसी से न भरा, और तव यही ठीक समझा कि एक कहानी शीर्षकहीन ही सही। शुभ और चुभता नाम न हो, तो वदनाम होना तो किसी प्रकार भी उचित नहीं। और कहानी तो एक घटना है—सामाजिक और वैयक्तिक घात-प्रतिघात-जन्य भावनाओं का एक शब्द-चित्र, मनोविकारों का चढ़ाव-उतार—वासनाओं और आदर्श के संघर्ष का लेखनी-तूलिका से लिखा हुआ एक सजीव चित्र। तो

फिर न हो नाम—शीर्षक। कुछ चीज चाहिए।

गंगा की सखी-सहेलियों में—सहायक नदियों में—यों तो एक से एक बढ़कर और मदमाती हैं। चढ़ने पर—भरी जवानी—बरसात में उनके आनन्दविभोर—उल्लास, नखशिख-सौन्दर्य, आकर्षक और गजब ढहाने वाली चंचलता की कौन प्रशंसा करे? यमुना की ब्रजकेलियां, सरयू की अठखेलियां, सरस्वती की अगोचरता और गदकारी सोनभद्र का फहराता हुआ सुनहरा चीर देखते ही बनता है; पर रामगंगा का भृकुटी-विलास और भावभंगी बेजोड़ ही है। गंगा महारानी की किसी भी यौवन-मदमाती सखी का यह ताव नहीं कि रिझाने की किसी भी कला में राम गंगा को हरा सके। गात की मझोली, भाव की गम्भीर रामगंगा की छटा को बरेली, मुरादाबाद, शाहजहांपुर, फर्रूखाबाद और हरदोई के जिलों में देखिये। हरित तृणों की झालरदार साड़ी पहने, उभरे गात से, फुदकती और मचलती, मुड़-मुड़कर देखती और यौवन-बाढ़ में अनेक मस्त वृक्षों को बहाती रामगंगा एक विचित्र ही नदी है। अनेक मकानों को अपने गर्भ में रखती—भोजन-सा करती—मीलों तक खेतों को जलमग्न करती, मानवी नयी-नवेलियों से होड़ लगाकर वह गंगा से मिलने बढ़ती है। किसी-किसी गांव के पास तो उसे अपने पीहर की याद आ जाती है, और लौट-लौटकर चक्कर लगाकर—घायल सांप की भांति पलटा खाकर—कुछ ढूंढती-सी वह अपना मार्ग बनाती और गांव को प्रायद्वीप बना डालती है।

ऐसे ही प्रायद्वीपी एक गांव कटोरा में रामगंगा के यौवन को लजाने वाली चमेली नाम की एक चमार युवती रहती है। गांव से कुछ हटकर रामगंगा की ओर को उसकी झोंपड़ी है। प्रतिवर्ष अपने यौवन-मद में कुछ बौराई-सी रामगंगा चमेली की झोंपड़ी की ओर को बढ़ने की कोशिश करती है। गजों लम्बी दरारें फटती हैं, और धम-फिच्च करके बैठ जाती हैं। डाह से उधर वह बढ़ती है अथवा रूप-राशि की प्रतिमा—चमेली—की झोंपड़ी से मस्तक टेकने को, सो कहना कठिन है। वैसे तो उस युवती के पैर के धोवन से रामगंगा अपने मस्तक को गौरवान्वित करती है क्योंकि प्रतिदिन दो बार अपनी गगरियां भरने वह रामगंगा-तट पर आती है।

अपने उतावलेपन में जब रामगंगा झोंपड़ी की ओर बढ़ने को जोर लगाती है, तब युवती और उसका पति तोता चमार अपनी लटू-पटू उठाकर गांव की ओर को थोड़ा-सा खिसक जाते हैं। झोंपड़ी को खिसकाने में कोई विशेष देर नहीं लगती। पति-पत्नी मिलकर टटियां उठाकर रख आते हैं। उस झोंपड़ी में सामान ही कितना है। बस, टूटे-फूटे बर्तन-भांड़े और दो खाटें। हां, चमेली की बड़ी पूंजी है चक्की। उसे वह बड़ी सावधानी से उठाती है। उसी के बूते पिसाई करके वह चार दाने कमा लेती है। उसे आये अभी तीन वर्ष ही हुए हैं, और अपने वैवाहिक जीवन के प्रथम फल—अपनी डेढ़ वर्ष की बिटिया मुन्नी को देखकर वह निहाल हो जाती है, और पहली सन्तान की मां होने के कारण वह अपनी बालिका के लिए कुछ अधिक सतर्क रहती है। मेह से झोंपड़ी चूने लगी कि चमेली की आंखें चकिता हिरनी की भांति उस पर दौड़ गईं। बरसात में तोता और चमेली वैसे ही परेशान रहते हैं कि कहीं रात में ही रामगंगा में बाढ़ न आ जाय। चमेली को अपनी बालिका के कारण ये आशंकाएं बहुत सताती हैं। कपड़ों की कमी के कारण भीगे कपड़ों से ही गुजारा करना पड़ता है। जब झोंपड़ी चूती है और गीले कण्डों से उसे रोटी करनी पड़ती है, तब वह झल्लाकर नदी को कोसने लगती है, और क्रोध की लाली उसके यौवन की आभा को उसके कपोलों पर और भी दमका देती है। तोता उसकी आकृति पर सूर्य और चन्द्रमा की झलक देखकर मुग्ध हो जाता है, और मुन्नी को गुदगुदाकर हंसा देता है। उसकी किलकारी और चार दांत देखकर चमेली का क्रोध भाग जाता है। बरसात में छाया और धूप एक-दूसरे का पीछा करती खेतों में दीख पड़ती हैं, वैसे ही चमेली रोटी को झाड़कर क्रोध और आत्मतोष से कहती है—"भगवान् ने यह दुःख झेलने को ही तो हमें चमार बनाया, नहीं तो क्या मैं अपनी बिटिया मुन्नी को जिलेदार की बिटिया की भांति न सजाती। ईश्वर की मर्जी होती, तो क्या हमें कहीं कच्चा मकान बनाने को चार हाथ ठौर न मिल जाता।" घबराकर बच्चा अपनी मां के अंचल में जा छिपता है, कष्टों और दुःखों से घबराकर भोले और भले मनुष्य दैवी शक्ति की शरण लेते हैं। बस, इसी दैवी सहारे, भविष्य की आशा और युवावस्था की अलमस्ती से,

तोता और चमेली ने मुन्नी का मुंह देख-देखकर बरसात की यातनाएं भोग डालीं।

"आस-पास के गांवों से छः-सात चमारों को पकड़ लाओ और बैठक की सफाई तीन दिन के भीतर हो जाय। सुनता है, मेकुआ कि नहीं?"

"मालिक, जूड़ी-बुखार के मारे चमार आने से इनकार करते हैं।"

"उल्लू का पट्ठा कहीं का। तेरी और चमारों की खालें खिंचवा लूंगा, जो काम न हुआ!"

"हजूर, होगा। मालिक का काम तो होगा ही। मैंने वही बात कही थी, जो चमारों ने मुझसे कही थी। मालिक की हुक्मउदूली कैसे होगी!"

"कौन-से चमार ने आने से इनकार किया, बता? अभी बुलवाकर उसके सौ जूते लगवाऊं और गांव से निकाल दूं। इन कमीनों पर जितनी मेहरबानी करो, उतने ही सिर पर चढ़े आते हैं। समझते ही नहीं हराम-खोर कि हुकूमत के क्या मानी हैं।"

"नहीं अन्नदाता, उन्होंने आने से इनकार नहीं किया, वरन् बुखार की कमजोरी के कारण तीन दिन के भीतर सफाई और लिपाई-पुताई पूरी करने से मजबूरी बताई थी।"

"पहले तेरी ही शामत आना चाहती है। यह बता, किसने मजबूरी जाहिर की?"

"मालिक, आपके हलके में चमारों के केवल चार घर हैं, जिनमें गांव का चमार तोता ही काम करने लायक है। बाकी दो चमार शहर में काम करते हैं। हां, उनकी औरतें गांव में रहती हैं। सो इस साल की बीमारी में सभी गिर गई थीं।"

"हम नहीं जानते। तीन दिन के भीतर सब काम पूरा हो। दीवाली के दिन हमारे यहां दारोगाजी आयेंगे। कुछ नाच-गाना भी होगा।"

उपर्युक्त बातें हुईं जिलेदार बहादुरसिंह और रियासत के सिपाही मैकू में। जिलेदार बहादुरसिंह रियासत जैजैमऊ का एक जिलेदार है। वेतन है दस रुपया मासिक और खुराक। अपने हलके में उसका रोब रियासत के मालिक राजा साहब से अधिक है। उसके विरुद्ध कुछ करने की

ताव गांव-वालों में नहीं। गांव-वालों का ऐसा कोई संगठन नहीं, जो सामूहिक विरोध कर सके। दो-चार ने उसके खिलाफ रियासत में अर्जियां दीं, तो जवाब मांगा गया जिलेदार से। जिलेदार ने पहले तो शिकायत करने वालों को धमकाया। फिर उनके जानवर पकड़वाकर बाड़े में कर दिये और रियासत को जवाब लिख दिया कि वे बड़े ही सरकश किसान हैं। रियासत की हुकूमत नहीं मानते; मुखालिफत करते हैं। और पिछले चुनाव में रियासत की मर्जी के खिलाफ वोट दिये थे। बस, इतनी रिपोर्ट से रियासत के मालिक भी जिलेदार की बात मान लेते हैं। यही नहीं, दो-चार सिर उठाने वालों को उसने बेदखल भी करा दिया था। फलस्वरूप इलाके में बहादुरसिंह का आतंक है। वेतन है दस रुपया और खुराक, पर दस रुपये में तो जॉनीवाकर ह्विस्की की दो बोतलें भी नहीं आतीं, जिन्हें वह और उसके दोस्त तीन दिन में पी डालते हैं। हां, चार गाय और तीन भैंसें छुटी किसानों के खेतों में चरती हैं। उनके दूध, दही और घी से गुजारा हो जाता है। उसके इलाके में पांच सौ हल हैं, और फी-हल दो रुपया वार्षिक नजराना तो उसका हक है, जो जरूर वसूल होगा, चाहे रियासत का लगान वसूल न हो। कई सौ बीघे खेती भी होती है, जिसकी जुताई और कटाई सब बेगार और हुकूमत में। इलाके का प्रत्येक थानेदार उसकी उंगली पर नाचता है। जब कभी थानेदार को किसी गवाह की जरूरत होती है, तब फौरन ठाकुर बहादुरसिंह को खबर कर दी जाती है, और गवाह तैयार हो जाते हैं। तीज-त्योहार पर किसानों के बच्चे चाहे तरसते रहें; पर थानेदार को दूध-दही पहुंचेगा ही, और दो-चार गाड़ी ईंधन तो राजा साहब की आज्ञा से भी वहां पहुंच जाता है। यह दूसरी बात है कि राजा साहब उसे कुत्ता समझकर ही ऐसे जूठन के-से कौर फेंक देते हैं; पर देहात की असहाय जनता के लिए पुलिस सर्व शक्तिशाली है।

दीपावली की संध्या है। अनेक तूलिका-रश्मियों से विश्व को स्पर्श करके, अन्धकार को चार्ज देकर, विराट् तेजपुंज ओझल हो गया। ऊपर आकाश में प्रकृति ने नक्षत्र-रत्नों का थाल सजाया, प्रकृति सुन्दरी की अर्चना के

लिए और कटौरा के घरों में दीये संजोये गये—लक्ष्मी की पूजा के लिए। होली, दीवाली तथा अन्य त्योहार गरीबों के पीड़ित हृदयों में कुछ चैन-सा पहुंचाते हैं—प्रातःकाल के समीर के समान, जब यक्ष्मा-पीड़ित व्यक्ति को कुछ चैन मिलता है। खीलों और बताशों से बच्चों को प्रसन्न किया गया; पर कटौरा में एक घर था, जिसमें अभी तक कोई दीया नहीं संजोया गया था। उस झोंपड़ी की मालकिन चमेली किस बूते पर दीपक संजोती, जब उसकी झोंपड़ी और हृदय का दीपक—उसका पति—लोता रात होने पर भी जिलेदार की आज्ञा से घास छील रहा था। लगातार दो दिन चौपाल की लीपा-पोती करने से उसका ज्वर से निर्बल शरीर फिर ज्वर-ग्रस्त हो गया था; पर जिलेदार की कड़ी ताकीद थी कि अगले दिन प्रातः काल जिलेदार और थानेदार के घोड़ों के लिए घास तैयार मिले, और चमेली को दो धड़ी आटा पीसकर देना था, क्योंकि दस-बीस आदमियों का कलेऊ था।

दिन-भरकी लीपा-पोती के कारण, जिसमें रोगी पति का हाथ बंटाने में चमेली का स्वस्थ शरीर थककर चूर हो गया था, उसने अपनी बच्ची को चुप रखने के लिए अफीम खिला दी थी। रात को दो धड़ी की पिसाई औत पति द्वारा घास की छिलाई की कल्पना से चमेली के हृदय में रोष और ग्लानि का तूफान उठ रहा था। वह अपने भाग्य को कोस रही थी कि उसके पास रुपया होता, तो किसी शहर में जाकर रहती और सुख से अपनी इच्छानुसार अपना काम करती। उसके मन की धूमिल ज्योति में कभी-कभी ज्ञान-प्रकाश की रेखा ऐसे चमक जाती जैसे बदली की रात में बिजली, और तब वह कहने लगती कि आखिर जिलेदार की विभूति का स्रोत क्या है। लगातार खून-पसीना एक करके वह और उसका पति काम करते रहे, और मजदूरी अथवा उसका कोई बदला नहीं मिला—एक प्रकार से बलपूर्वक उनसे उनकी रोटी छीनी गई। कहीं और जगह मजदूरी की होती, तो उस कठिन परिश्रम के उन्हें चार रुपये तो मिले होते। फिर थोड़ी देर बाद उसे खयाल आता अपनी जात का। चमार होने का ही तो उसे दण्ड मिलता है; पर दूसरे ही क्षण उसे गरीब ब्राह्मण और क्षत्रिय लोगों की बेबसी का स्मरण कर इसी नतीजे पर आना पड़ता

कि जिलेदार के वैभव का कारण है—उसका जुल्म और उसके अधिकार, जिनके बल पर वह औरों की सम्पत्ति—मजदूरी, दूध, दही और शाक-भाजी—हरण करता है। पर उसका ज्ञान-प्रकाश क्षणिक ही होता—विद्युत् की चमक के समान और शीघ्र ही उसकी असहाय परिस्थिति रूपी बदली घिर आती। गाड़ी में जुते बैल की भांति उसे अपनी बेबसी के पथ पर चलना ही पड़ता।

सायंकाल को घर आकर चमेली ने अपनी झोंपड़ी को बुहारने का प्रयत्न किया, पर फूल-सी अपनी बिटिया की क्लान्त आकृति से उसका दिल भर आया। अफीम के नशे की खुश्की से नन्ही-सी बच्ची के होंठ फट गये थे। बारह घंटे के बाद उसका कुलबुलाना देखकर उसने लपककर उसे छाती से लगा लिया। बच्ची के दुग्धपान से उसके व्यथित हृदय की कसक कुछ निकली। रुका हुआ मातृ-प्रेम श्वेत तरल रूप में बच्ची के मुंह में पड़ा, और थोड़ी देर के लिए वह दिन-भर का दुःख भूल गई। स्नेह-मद ने उसे ज्ञान-शून्य-सा कर दिया और थपकी दे-देकर वह लोरी देने लगी—'ढाक के दौना मगद के लड्डू जिमैया तौ जें गये मेई मुन्नी गई सोइ। नींद तोय बेचि आऊं जो कोई लेइ।'

थपकियां देकर, लोरी सुनाकर, दूध पिलाकर, अपनी मुन्नी को सुलाकर और प्रेम-दृष्टि से उसे निहारकर चमेली कराह उठी। फिर उसने दीवाली के दीयों की ओर खयाल किया। दीये थे, पर तेल न था; तेल लेने कौन तेली के यहां जाता? मिट्टी के तेल के लैम्प का दीवाली को कोई महत्त्व नहीं। रोजाना की भांति चमेली ने वही लैम्प जलाया। फिर उसके लिए वह दीवाली कौन-से सुखद स्वप्न लायी थी! उस दिन तो वह अपने आदमी के साथ बुरी तरह जुटी रही थी। दम मारने की भी फुर्सत न थी। स्वयं अपनी बच्ची को दूध तक न पिला सकी थी। जिलेदार की चौपाल की लिपाई-पुताई के कारण अपनी छोटी-सी झोंपड़ी की सफाई भी न कर सकी थी। चौपाल के पास जिलेदार के बच्चों को खेलता देख, जिलेदार की पत्नी ठकुरानी को आभूषण पहने लोगों को अपनी बच्ची के लिए डॉक्टर से दवा लाने का आदेश देते सुन, चमेली को अपनी बेबसी पर रोना आ गया था। दीवाली के दिन शायद जेल में कैदियों को भी उतना

काम न करना पड़ा हो, जितना चमेली और तोता को। तो फिर वह किस उत्साह से दीवाली मनाती। तेल लाने की उसमें ताब न थी। बस, बच्ची को सुलाकर, पीसने को चक्की के पास संभालकर, रखकर और झोंपड़ी के किवाड़ बन्द कर वह नदी के किनारे की ओर बढ़ी।

झोंपड़ी से आधा मील की दूरी पर आग जलती दिखाई पड़ी। कितनी सुहावनी थी वह आग, उस अंधेरे में। समुद्र में छोटा-सा टापू जैसे शोभित होता है, वैसे ही अंधेरे में वह क्षीण तेज-पुंज अग्निकाण्ड-सा दिखाई पड़ा। उसी के सहारे वह वहां पहुंची। देखा, तो तोता कराह-कराहकर आग की रोशनी में ढीले-ढाले हाथों से खुरपी चला रहा था। ज्वर के वेग के कारण उसके हाथ खुरपी में वह जोर न दे सकते, जिससे दूब की जड़ें पूरी-पूरी कट जातीं। एक घिस्से के बजाय उसे तीन घिस्से लगाने पड़ते थे। ओछे सवार को जैसे घोड़ा पहचान लेता है, उसी प्रकार कमजोर हाथों को मानो खुरपी पहचान गई थी। वह खुरपी, जो उसके अंग का एक भाग बन गई थी और जिससे वह बात की बात में डलियों घास छील डालता था, वही खुरपी उस समय ढीली पड़ रही थी।

चमेली को पास खड़े देखकर तोता की हिम्मत और टूट गई। वह नहीं चाहता था कि अपनी प्यारी पत्नी को किसी प्रकार अपने कष्ट से दुखी करे। दिन-भर की मरी-खपी वह वैसे ही थी और तिस पर उसे पीसना था। उसे देखकर तोता की आंखें ऐसे डबडबा आयीं, जैसे रुआंसे बच्चे की आंखें मां को देखकर छलछला जाती हैं और हूक मारकर वह रोने लगता है। घास छीलना बन्द करके तोता आग के निकट आकर आग तापने लगा। अवरुद्ध कण्ठ को खांसकर उसने साफ किया और आंखें नीची करके आंसू छिपाने की गर्ज से उसने कहा—"तू बड़ी पगली है। यहां काहे आयी? मैं तो बीमार हूं ही; तू भी बीमार पड़ना चाहती है?"

चमेली—"हां, मैं पगली हूं, इसीलिए आयी हूं। मेरे जी से पूछो कि मुझ पर क्या बीत रही है। दो महीने की मांदगी से उठे थे। अभी दाल का पानी पीते थे कि कढ़ी खाये जिलेदार की लीपा-पोती आ गई और तुम फिर बीमार पड़ गये और बुखार में अब रात को घास छील रहे हो। मैं पगली हूं कि तुम पागल हो?"

तोता—"पगला तो हमारा भाग्य है; पर जिलेदार कसाई है। घास न पहुंची, तो फिर खैर नहीं। बोटी-बोटी उड़ा देगा।"

चमेली—"कसाई सही; पर है तो आदमी। तुम्हारी हालत पर उसे जरा भी तरस नहीं आयगा? जानता तो है कि तुम बीमार थे और आज फिर तुम्हें बुखार आ गया है। मैं जाकर ठकुरानी से कह दूंगी कि मेरा आदमी बीमार है और फिर तड़के ही मैं घास छील डालूंगी।"

तोता—"तू इन जिलेदारों को नहीं जानती। कलजुग के दूत हैं। ये सूरत-शक्ल से आदमी हैं। वेश-भूषा से बड़े भले भी दिखाई देते हैं; पर इनकी असलियत कुछ और ही है। कसाई इनसे कहीं अच्छे होते हैं।"

चमेली—"तुम तो वहस करने लगे। मैं जानती हूं कि ये रेत-रेतकर—तंग करके—मारते हैं; पर हैं तो ये बाल-बच्चेदार।"

तोता—"बाल-बच्चेदार? हां, हैं; पर उससे क्या? हम भी बाल-बच्चेदार हैं; पर खुरपी के बेंट के प्रति हमारा क्या व्यवहार है? वह काम की चीज है; पर काम न निकलने पर हम उसे फेंक देते हैं।"

चमेली—"तो हम और हमारी बच्ची बेजान खुरपी के बेंट के समान हैं?"

तोता—"और क्या! मैं यही देख रहा हूं। ये जमींदार और जिलेदार हमें अपने मतलब की चीज समझते हैं और मतलब निकल जाने पर खुरपी के बेंट की भांति फेंक देते हैं।"

चमेली—"मैं कुछ नहीं मानती। चलो, घर चलो और आराम करो।"

तोता—"अभी लगालगी में मैं घास छील लूंगा। खटिया पर गिरकर फिर मुझसे नहीं उठा जायगा। तू चल। घड़ी-आध घड़ी में इस आग के सहारे मैं घास छील लूंगा।"

चमेली (तोता का हाथ पकड़कर)—"ना, मैं नहीं मानूंगी। चाहे कुछ हो, चलो। और तबीयत खराब हो गई तो मुझे ही भुगतना पड़ेगा। जिलेदार से निहोरे-पाते करके बचा लूंगी।"

दोनों प्राणी घर आये। गरम पानी करके चमेली ने तोता को पिलाया और फटे-पुराने कपड़े उढ़ाकर लिटा दिया। झोंपड़ी में दीवाली के दीये न

थे, वरन् रोज का मिट्टी वाला लैम्प ।

थके-मांदे शरीर में नींद का नशा आ जाने से रात ढलते फिर आंख खुलने की आशा न थी और पीसने का ढेर रखा था । तोता घास भी न छील पाया था और प्रातःकाल गहरी ओस में घास छीलने का सवाल ही न था, इसलिए आधा काम—पिसाई—करना ही था, इसलिए चमेली ने अपनी चक्की चलाई । दो टोकनों में गेहूं भरे रखे थे । चक्की में कौर डाल-कर उसने पीसना प्रारम्भ किया । मनोव्यथा की उपेक्षा करने के लिए डढ़े को दाएं और बाएं हाथ से बारी-बारी से पकड़कर चक्की चलाते हुए उसने गाया—

'जंजारी जियरा
धन्धौ करत जनम योईं गयो ।'

ऊपर आकाश का पाट अनेक नक्षत्रों से जटित संसार की चक्की अविचल गति से चला रहा था । कटौरा की दीपावली के दीये अभी बुझे नहीं थे । लोगों ने खील-बताशे अभी चब नहीं पाये थे ।

जिलेदार की चौपाल की धज निराली थी । चौपाल के वृत्ताकार कमरे में दीवार से कुछ हटकर गलीचे बिछे थे । बीच के गलीचे पर रेशमी गिलाफ चढ़े दो तकिये थे । वे मसनद जिलेदार और दारोगा साहब के लिए थे । उस गलीचे के समकोण और भी कुछ साधारण गलीचे थे, जिन पर और लोग बैठे थे । छत के बीचों-बीच फानूस लटक रहा था, जिसमें एक दर्जन के करीब मोमबत्तियां जल रही थीं । उसके बाहर कुछ परवाने भीतर घुसने को तड़प रहे थे । पान, सुपारी और इत्रदान मुख्य गलीचे पर रखे थे । चौपाल के बाहर मैले-कुचैले कपड़ों में सिमटे-सिकुड़े लोग कनखियों से भीतर देख रहे थे । किसानों के सूखे और तेजहीन कपोलों पर तमाशे की आकांक्षा से आनन्द की रेखाएं अंकित हो रही थीं ।

पतली दुलाई ओढ़े, दुपल्ली टोपी पहने, सुरमा लगाये, मूंछें टेकुये-सी खड़ी किये, मन्द गति से जिलेदार बहादुरसिंह आये और साथ में थे दारोगा जी । मसनद पर जमते ही फर्शी सामने रखी गई । जॉनीवाकर की दो बोतलें, सोडा और पैमाने भी आये, और आये शीघ्र ही बाहर से मीरासी,

तबलची और नवयौवना मंगलामुखी पिशवाज और झीने वस्त्र पहने। आते पान-पीक-रंजित अधरों को खोलकर कुन्दकली-अवलि-से दांत दिखाकर अर्ध-मुसकान से जिसके कपोलों पर यौवन की रेखा दीप्त हो गई, उसने जिलेदार को फर्शी सलाम झुकाया। धुएं के कश को खींचकर, निगाली को धीरे से हटाकर, मंगलामुखी के स्नेह-भरे अभिवादन से निहाल होकर, नेह प्यासी आंखों से देखकर कुछ हंसकर जिलेदार साहब ने तनिक सिर हिलाकर अभिवादन स्वीकार किया।

जॉनीवाकर की बोतल खुली—घच्च; और गले के नीचे वह पेय उतरा गटर-गटर। आंखों में सुरूर, चेहरों पर नूर और सामने सब साज-सामान। बस, आज्ञा हुई कि मुजरा जमे। पहले नाच का हुक्म हुआ और परमलू नाच का। उस्ताद जी ने पलथी मारे बैठकर हाथ से गति करते हुए बोल कहे—'तक तक तक दिग तक दिग गदि कत जगत कूक तक तक दिग ति जय तग तराग तग धिलांग धिधि धिन झझन नाड़ धिग झनन ड़ान थू कतत कतत कत गिदिन्नाड़ ता धा।' ता धा की समाप्ति पर चौपाल की धूमिल ज्योति में बिजली-सी चमकी और विद्युत् गति से नर्तकी ने न मालूम कितने चक्कर काटे और एकदम ऐसे रुकी कि उसकी भावभंगी और रुकने से ता धा का ब्रेक लग गया। 'वाह-वाह,' 'खूब-खूब' की ध्वनि और सिर झुकाकर प्रशंसा स्वीकृति के उपरान्त गाने का नम्बर आया। तबला ठनका 'धा धी धीना, नाधी धीना, नातीतीना, नाधीधीना', और हारमोनियम पर उंगलियां चलीं स ग म प नि ध नि स स नि ध प म ग रे स और अधखुले नेत्रों, गोरी उंगलियों से लट को संभालकर तिरछी चितवन और हाथ को आगे बढ़ाकर उसने खम्माच राग में गाया—

'राजा जानी मारो ना नयनवां के तीर।'

वाह-वाह! बढ़ी रहो। क्या कहने! शराब और गाने में ब्राह्म-मुहूर्त हो गया।

अगले दिन प्रातःकाल जिलेदार की यात्रा की तैयारी हुई, और घोड़ा लाया गया। घोड़े का पेट न भरा था। देखते ही जिलेदार आग-बबूला हो गया, और शीघ्र ही सिपाही की पेशी हुई।

"क्यों बे उल्लू के पट्ठे ? तेरी···यह बता कि घोड़ा क्यों भूखा रहा ?"

सिपाही (सहम कर)—"मालिक घास, नहीं आयी।"

जिले०—"क्यों नहीं आयी, जब हमने हुक्म दिया था।"

सिपाही—"हुजूर, तोता चमार कह गया था कि रात के नौ बजे तक घास दे जाऊंगा; पर वह लाया ही नहीं। सवेरे उसके घर जाकर देखा, तो थोड़ी-सी घास थी, सो ले आया। पूछा तो उसकी औरत ने कहा कि कल रात से ही उसे बुखार चढ़ा है।"

जिले० (क्रुद्ध होकर)—"पकड़ लाओ और···और लगाओ हमारे सामने पचास जूते।"

चार नौकर भागते गये और तोता को घसीटते हुए ले आये। बुखार से बेदम था। बोल भी न सकता था। क्षमा-याचना के लिए ऊपर हाथ उठाकर कुछ कहना ही चाहता था कि लगे पड़ने जूते। दस-पांच जूतों में ही उसका भुरकुस निकल गया। बेहोश होकर वह गिर पड़ा था; पर जूते अभी उस पर बरस ही रहे थे। एक नौकर तो हाथ में लगे गन्ने से तोता को धुन रहा था। ठीक उसी समय सामने से चमेली अपनी बच्ची को गोद में लिये, बर्र की-सी काटी, उधर को भागी चली आ रही थी और चिल्ला रही थी कि 'बचैयौ मेरे आदमी को, उन्हें बुखार है।'

किन्तु जूते और गन्ने से मानवी मूर्ति अथवा बेबसी के पुतले को ठीक किया जा रहा था। घबराकर चमेली तोता के ऊपर गिरी। उसकी बच्ची सहमकर, चीखकर और गोद से आंखें ऊपर करके देखने लगी। उन पवित्र आंखों के आकर्षण से भी वे संगदिल नहीं पसीजे। कड़ककर जिलेदार ने कहा—"लगे इस···बच्चो के भी। आई है बचाने अब। घास क्यों नहीं छिलवाई थी ? जानती नहीं थी कि तेरे बाप···घोड़े को सफर में जाना है।"

बस, गन्ने और जूते चमेली पर भी पड़े। अपने जीवन में भूखे, रोगी और बेहोश पति को बचाने में उस पर मार उसी दिन पड़ी। लड़की और पति के बचाने और मछली की भांति तड़पने में उसका अंचल अस्त-व्यस्त था। क्रोध और घबराहट में उसके मुंह से केवल यही निकला—'भगवान् ! नाश करे कुसूरवार का···' वह कुछ और कहना चाहती थी कि एक गन्ना

उसकी बच्ची की नाक के बीच में लगा। चिल्लाकर वह वेहोश हो गई। नाक से खून का फव्वारा चला, और उसे देखकर जिलेदार और नौकरों की अकल चकराई।

चमेली सिर धुन रही थी। छाती से लगाकर उसे दूध पिलाने की कोशिश कर रही थी। पर उसका अब तक पिलाया हुआ दूध—रक्त—नाक के नथनों से रक्त के रूप में उसकी छाती से लगकर स्तनों द्वारा भीतर प्रवेश न पाकर—नीचे को बह रहा था।

झोंपड़ी में तोता कराह रहा था, और उसकी बच्ची को कफन में लपेटा जा रहा था। जिलेदार के आदमी वहीं तैनात थे, और वे तब तक वहां से नहीं हटे, जब तक नन्हीं-सी लाश को रामगंगा के सीपुर्द नहीं कर दिया गया।

'ऐमुन तैमुन' और 'तिरिकिटता'

सोलह और पच्चीस साल की उमर 'गधा-पचीसी' उमर कही जाती है। यह समय बढ़वार का होता है। इस काल में अंग-प्रत्यंग पुष्ट करके प्रकृति अपने मानवी पुतले को संसार-संग्राम के लिए तैयार करती है। एक प्रकार से इस समय शरीर में उफान-सा आता है। गधा-पचीसी उमर वाला युवक भी अपने को आवश्यकता से अधिक होनहार, योग्य और बलशाली समझने लगता है। और जब तक शरीर का उफान कम नहीं हो जाता, बढ़वार रुक नहीं जाती और संसार की चिन्ताओं का भूत सिर पर नहीं आ बैठता; तब तक उसके पैर जमीन पर नहीं पड़ते। इस गधा-पचीसी में, आकाश में छेद कर थेगरा (पैवन्द) लगाने का भी दुःसाहस होता है। इस उमर का नशा चढ़ता सब पर है। हां, थोड़े और बहुत की बात दूसरी है।

गधा-पचीसी उमर का एक ग्रामीण युवक वर्षा ऋतु में बर्दवान और कलकत्ता के बीच पैदल जा रहा था। संयुक्त प्रांत के पश्चिमी भाग का रहने वाला था। माता-पिता से लड़कर कलकत्ता की ओर काम की खोज में चल पड़ा था। नयी उमर—सो भी गधा-पचीसी की—काम की लगन और कलकत्ता के आकर्षण ने उस युवक के शरीर में बिजली-सी दौड़ा दी थी। उसने खयाल किया कि अब तो मैदान मार लिया है। साठ-सत्तर मील का चलना ही क्या। दो सपाटों में ही कलकत्ता जा पहुंचूंगा और घर लौटने का तब

तक नाम न लूंगा, जब तक हजार-दो हजार रुपये पल्ले न हो जायेंगे । हाथों में अंगूठी, कान में बाला, गले में कण्ठा और मुण्डा जूता पहनकर चर्र-चर्र करके, गांव में निकलूंगा तो मेरी अमीरी और खूबसूरती की चर्चा कानों-कान कोसों तक फैल जायगी । मेरे विवाह के लिए चारों ओर से खबरें आने लगेंगी । अम्मा मेरे निहोरे करेगी और कक्का मुझे मनायेंगे कि बेटा, विवाह कर ले; पर मैं सिगरेट का कश खींचते हुए कहूंगा कि किसी खोचड़ के यहां मैं विवाह नहीं कर सकता । ऐसे सुखद चित्र खींचता हुआ वह युवक कलकत्ता की ओर बढ़ा चला जा रहा था ।

दिन ढला और शाम होने आयी, पर उसकी गति न ढली । इधर शाम के होते ही श्याम घटा गहरी हुई । आसमान पर रात्रि की काली अलकें बिखरी पड़ी थीं । बिजली चमकी अथवा रात ने दांती पीसी । मूसलाधार पानी गिरने लगा । सहस्र नेत्रों से अश्रुपात होने लगा और आकाश तथा पृथ्वी का सम्पर्क हो गया । युवक का विचार-तिलिस्म टूट गया । पानी से लथपथ व्यग्र होकर वह पास वाले गांव की ओर भागा और सबसे पहले मकान की ओर कातर दृष्टि से चकित मृगशावक की भांति देखता हुआ उस ओर बढ़ा । ठीक वैसे जैसे बाज से पीछा किये जाने पर चिड़िया आदमियों की ओर उड़ आती है ।

फूस से पटे मकान के बाहर एक चबूतरा था और उस पर एक बूढ़ा ध्यान-मुद्रा में मग्न बैठा हुआ हुक्का पी रहा था । प्रत्येक कश के साथ मानो वह अपने दिल के गुबार निकाल रहा हो । मेह बरसने और हुक्के की गुड़-गुड़ में होड़ लगी हुई थी । हृष्ट-पुष्ट पछैयां युवक को अपनी ओर आते देख उसने हुक्का पीना बन्द कर दिया और उसकी ओर देखने लगा । वह बोला नहीं, पर उसकी आंखें साफ बोल रही थीं । युवक ने पास आकर कहा—मैं आज की रात ठहरना चाहता हूं । परदेशी हूं । बस बाहर इसी चबूतरे पर पड़ा रहूंगा । आप कौन बिरादरी हैं ?

बूढ़ा—"तुम कौन लोग हो ?"

युवक—(कुछ सहमते हुए)—"मैं तो ब्राह्मण हूं ।"

बूढ़ा—'"हम भी ब्राह्मण हैं, कोई बात नहीं है । ठहर जाओ ।"

युवक—"तो भगवान् की कृपा ही हुई जो पहला मकान ब्राह्मण का

ही मिल गया। पानी-फानी पीने की दिक्कत न रहेगी, चने मेरे पास हैं ही।"

बूढ़े ने उस युवक को नीचे से ऊपर तक देखा। वह उससे बात तो करता जाता था, पर उसके मन में भीतर ही भीतर विचारों की कोई दूसरी ही धारा बह रही थी। तूफान से नदी में धारा से विपरीत दिशा में लहरें उठती हैं; पर धारा उन बाह्य लहरों के नीचे अपनी चाल से चली जाती है। बूढ़े के मन की धारा भी ठीक वैसे ही चल रही थी।

उसने युवक से कहा, "यह बंगाल है। भीगे कपड़े न पहनो। न मालूम यहां कौन-सी बीमारी लग जाए।"

युवक—"कोई बात नहीं है। एक रात का क्या गुजारना। सोते काटी तो क्या, जागते काटी तो क्या? आप मेरे बारे में कुछ चिन्ता न करें। आपकी यह कौन कम कृपा है कि एक अजनबी आदमी को ठहरने के लिए स्थान दे दिया।"

बूढ़ा—"पच्छिम के आदमी भले होते हैं। यहां के किसी यात्री को मैं अपने द्वार पर खड़ा तक न होने देता। यहां पर छल-कपट बहुत बढ़ गया है।"

युवक—"मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि नदियों के साथ ऊपर का सब मैल इधर ही आ गया है।"

बूढ़ा—"सो नहीं। यहां की हवा ही ऐसी है। हां, मैं तुम्हें एक धोती और कपड़ा ला देता हूं। सूखे कपड़े पहन लो। भीगे कपड़ों को सुखा दो। कहीं बुखार आ गया तो लेने के देने पड़ जायेंगे।"

बहुत आग्रह करने पर युवक ने बूढ़े की दी हुई धोती पहन ली और वह चारपाई पर बैठ गया। बूढ़े की सहानुभूति ने तो उसकी सारी थकावट दूर कर दी और फिर गप-शप होने लगी। बातों के दौरान बूढ़े ने कहा—"तुम इतने बड़े हो गए और जनेऊ नहीं पहने! यहां का कोई ब्राह्मण ऐसा नहीं कर सकता।"

युवक—"हम लोग कोरे देहाती हैं; खेती करते हैं। जनेऊ विवाह के समय पहनते हैं।"

बूढ़ा—"अच्छा ? तुम्हारा अभी विवाह नहीं हुआ ?"

युवक—"अभी नहीं हुआ। बीसों जगह से विवाह आये; पर कुछ न कुछ खोट निकलती थी। कहीं लड़की काली मिलती थी तो कहीं घर अच्छा नहीं मिलता था। इसी झगड़े के मारे तो मैं भाग आया हूं; अब कमा कर कुछ ले जाऊंगा तो किसी अच्छे घर में विवाह करूंगा।"

बात करते-करते खाने का सवाल आया और बूढ़े ने उसे आग्रहपूर्वक भोजन करने को राजी कर लिया। उस दिन का-सा भात और शाक उसने अपने जीवन-भर में न खाया था। ऐसी खातिर उसकी कहीं नहीं हुई थी।

अगले दिन जब युवक चलने लगा तब बूढ़े ने कहा, "खाना तैयार है, खाकर जाना, ऐसी क्या जल्दी है। बुढ़िया न जाने तुम पर क्यों प्रसन्न है। और मेरी राय तो यह है कि कुछ दिन यहीं रहो। कलकत्ता में क्या खजाना रखा है? कलकत्ता का तो नाम-ही-नाम है। वहां तो रुपयावालों की ही तूती बोलती है। मेहनती-मजूर तो वहां मर रहे हैं। उनका सत निकाला जा रहा है। कोई बीमार पड़ जाय तो कोई पूछता ही नहीं। उठाकर हुगली में फेंक देते हैं। किसी ने छुरी भोंक दी तो मां-बाप बिलखते ही रह जायेंगे। और सुनो, हम भी ब्राह्मण हैं। हजार-दो हजार की पूंजी मेरे पास भी है। मकान है, जमीन है। मेरे कोई लड़का भी नहीं है। अब काम भी नहीं होता। घर में मेरी एक बड़ी शऊर वाली लड़की है। कई लड़कों ने विवाह के लिए खबर भेजी है; पर मैं अपनी नेक लड़की को भाड़ में थोड़े ही झोंक दूंगा।"

विवाह-प्रस्ताव से युवक स्तम्भित रह गया। सुन्दर केशों वाली युवती के विशाल नेत्र वह प्रातःकाल ही देख चुका था। गौर वर्ण न था, पर सौन्दर्य कोई रंग पर थोड़े ही है। युवक के सम्मुख कितना बड़ा आकर्षण था। घर-घूरे के साथ उसे विवाह में एक कुलीन ब्राह्मण की सुन्दर युवती मिल रही थी। ऐसे दिव्य अवसर को कोई मूर्ख ही भले छोड़े। आदर्शवादी छोड़ सकते हैं; पर गधा-पचीसी उमर के कितने युवकों का आदर्श कामिनी और कांचन—वह भी विवाह में—के सम्मुख ठहर सकता है? युवती बंगालिन के बालों में युवक का मन उलझ गया। विवाह हो गया और

वह वहीं रहने लगा।

नयी उमर और नया विवाह—गिलोय और नीम चढ़ी। वह युवक घर वालों को बिलकुल भूल गया। नवीन जीवन का जादू चढ़ गया। रहते-रहते उसे वहां कई महीने हो गए। एक दिन बूढ़ा और उसका दामाद बैठे हुक्का पी रहे थे कि सामने से एक आदमी आता दिखाई पड़ा। दूर से ही उस आगन्तुक ने कहा, "अरे बुलाकी, तू कहां ?" उस आदमी को देखकर बुलाकी का रंग पीला पड़ गया, संकेत से उसे अलग ले जाकर कहने लगा, "पंडित जी, पाय लागूं। मोपै बड़ो कसूर बनि गयौ है। अब हूं गाम जाइबे लाइक ना रहौ। जां मैंने एक बिरामन (ब्राह्मण) की लरकिनी सूं (से) वियाउ कल्लओऐ।"

पंडित जी—"नउआबारे तैं, ने बड़ो पाप करो।"

बुलाकी—"का करूं। अब तौ फंसि गयौ। घरैं आइबे लायक ना रहौ। हूं तुम्हें बैठारि हूं न सकतु। पालागें।"

बूढ़े ने आगन्तुक और अपने दामाद की बातें तो नहीं सुनीं पर उनकी चेष्टा से उसे कुछ दाल में काला जरूर मालूम हुआ। जैसे ही उसका दामाद लौटकर आया तैसे ही खेत पर जाने के बहाने बूढ़ेने लकड़ी उठाई और खेत की ओर गया; पर चक्कर काटकर उसने उस आगन्तुक को जा पकड़ा और पूछा—-

"तुममें और तुम्हारे देश वाले जवान में क्या बातें हुईं ?"

आगन्तुक—"क्या करोगे पूछकर ?"

बूढ़ा—"कुछ हर्ज है बताने में ?"

आगन्तुक—"वह जात का नाई है। यहां ब्राह्मण बनकर एक ब्राह्मण कन्या से विवाह कर लिया है। मैंने इसीलिए उसे फटकारा था।"

लौटकर बूढ़ा घर आया। उसके चेहरे पर क्रोध मिश्रित हास्य था। अपने एक हाथ को दूसरे हाथ पर इस प्रकार चलाते हुए जैसे नाई उस्तरे को बद्धी पर चलाता है, बोला—"तुम अपनी जात बदलकर और धोखा देकर हमें ठगना चाहते थे। सो तुम नहीं कर पाये। तुमी ऐमुन तैमुन (एक हाथ दूसरे पर उस्तरे की भांति करते हुए) तो आमी (मैं) तिरिकिटता।"

बूढ़े ने ऐमुन-तैमुन कहने में एक हथेली पर दूसरा हाथ उस्तरे की भांति चलाया और तिरिकिटता कहने में अपना सीधा हाथ बायी बांह पर होकर छुरी की भांति तेजी से उंगलियों तक फेरा जैसे छुरी से बांस की पच्चटें काटते हैं ।

इदन्न मम

जेल के अहाते में कैदियों का निरीक्षण करता हुआ गवर्नर जैसे ही निकला, वैसे ही उसे सम्बोधन करके एक कैदी चिल्लाया—"त्राहि माम् ! त्राहि माम् ! मेरे मालिक, मेरी रक्षा करो ! ये मुझे अकारण ही मार डालेंगे।"

"तुझे कौन मार डालेगा ?" गवर्नर ने रुककर पूछा।

"पिस्सू, जूं और खटमल, मेरे स्वामी ! और कोई नहीं। ये मुझे बेहद सताते हैं, और मेरे जीवन को उन्होंने असह्य बना रखा है।" कैदी ने अकृत्रिम भाव से उत्तर दिया।

कैदी की प्रहसनपूर्ण याचना से गवर्नर को हंसी आ गई, और वार्डर को आदेश देते हुए उसने कहा—"इसको पहनने के नये कपड़े और एक ओवरकोट दो।"

"हुजूर का बड़ा ही कृतज्ञ हूं; पर साथ ही क्या मुझे स्नानागार में स्नान करने की आज्ञा न मिलेगी ?"—कैदी ने गिड़गिड़ाकर विनय की।

कैदी की वह बात भी मान ली गई।

कैदी का नाम था मुश्किन, और उसको कारागार हुआ था पासपोर्ट के अभाव में। यह बात न थी कि उसके पास पासपोर्ट न था। था पर उसकी खोज में पुलिस ऐसी पड़ी थी, जैसे शिकार की गन्ध पर शिकारी कुत्ते। इसलिए उसने अपना पासपोर्ट फाड़-फूड़कर फेंक दिया था, ताकि

पुलिस को उसके नाम और धाम का पता न चले। गिरफ्तार होने पर पासपोर्ट न मिला, और वह उसी अपराध में दण्डित हुआ।

मुश्किन युवक था—आकृति से सुन्दर और सुसंस्कृत; हाव-भाव से दृढ़ और स्थिर; चरित्र में निर्भीक और नैष्ठिक सदाचारी; और विचारों में रूसी लोगों की स्वतन्त्रता का अदम्य पुजारी। उसकी नस-नस और रोम-रोम में देश-प्रेम की बिजली दौड़ी हुई थी। अपने देश पर वह दीवाना था—अलमस्त पुजारी, देश और सिद्धान्त की बाजी पर अपना सर्वस्व लगाने वाला खिलाड़ी, और इसीलिए पुलिसवालों को चकमा देने वालों में नम्बर एक और कार्य-साधन के लिए अपने उपजाऊ दिमाग से हजार तरकीबें सोच निकालने वाला, कौशल की सजीव प्रतिमा।

मुश्किन को जब पासपोर्ट के अपराध में दण्ड मिला, तब जेल में वह एक अनन्य राज-भक्त प्रजा की भांति रहा। उसने अपने एक मित्र से स्नानागार में जाने और वहां उसके कपड़े बदल और पहनकर भाग जाने की खबर कर दी। सहायता के लिए मित्र भी तैयार हो गया।

सार्वजनिक स्नानागार में दो सिपाहियों की देख-रेख में मुश्किन को लाया गया। कपड़ा उतारने के कमरे में लोग हू-हक कर रहे थे। कोई किसी के धक्के मार रहा था, तो कोई हंसी-दिल्लगी में मस्त था, और कोई स्नान करके कपड़े पहनकर लौट रहा था। जिसको जहां स्थान मिलता, वहीं अपने कपड़े उतारकर स्नानागार में चला जाता।

जब मुश्किन वहां लाया गया, तब उसने अपने मित्र को एक कोने में अपने कपड़े उतारते देखा। मुश्किन ने भी कपड़े उतारे। एक सिपाही उनकी देखभाल के लिए रह गया, और दूसरा कपड़े उतारकर स्नान के लिए उसके पीछे गरम कमरे में चला गया।

साबुन शरीर में खूब मला जाने लगा, और जैसे ही साबुन के झागों से सिपाही का चेहरा और सिर ढका, वैसे ही मुश्किन का मित्र उसके स्थान में आ गया, और मुश्किन चुपचाप, पर अविचल दृढ़ता से, गरम कमरे के अर्ध-अन्धकार से निकला और क्षण-भर में अपने मित्र के कपड़े पहनकर नौ-दो-ग्यारह हो गया। उसका मित्र उस समय तक शरीर को

मलता रहा और स्नान करता रहा, जब तक उसने समझा कि मुश्किन अपने छिपाव के स्थान तक पहुंच गया होगा। फिर कपड़े पहनने के कमरे में आकर उसने शोरगुल मचाना शुरू किया कि किसी ने मेरे कपड़े चुरा लिये हैं। स्नानागार में तहलका-सा मच गया, तलाशी ली गई; पर मुश्किन के जेल के कपड़ों के अतिरिक्त मुश्किन का कुछ पता न चला।

उधर मुश्किन के मित्र ने सन्देह-निवारण के लिए लाल-पीली आंखें दिखाईं कि मैं सेण्ट पीटर्सबर्ग के केन्द्रीय अधिकारियों को लिखूंगा कि सार्वजनिक स्नानागार में कैदी ऐसी लापरवाही से लाये जाते हैं।

मुश्किन ने एक बनावटी नाम से सेण्ट पीटर्सबर्ग जाकर एक कला-कौशल की संस्था में अपना नाम लिखा लिया; पर उसका विद्याध्ययन वहां अधिक न चला। रूसी उपन्यास-लेखक तथा अर्थशास्त्र एवं राजनीति के पंडित निकोलाइ चरनिशेवस्की (Nicolai Gavrilovich Tchernishevski) को बचाने के लिए उसने एक अति साहसिक योजना रची। वह जानता था कि अपनी जान पर खेलकर ही चरनिशेवस्की को वह बचा सकता है, और मुश्किन के लिए अपने देश के लिए कुछ कर बैठना एक खिलवाड़ था। जो अपने जीवन से फाग खेलने के लिए चौबीसों घंटे तैयार हो, उसे विघ्न-बाधा से क्या डर? जीवन रहे, न रहे—इसकी उसे क्या चिन्ता, फिर चरनिशेवस्की तो उस समय के रूस के युवकों के लिए अवतार, देवदूत और आदर्श रहनुमा था। उसके एक-एक शब्द—राजनैतिक और आर्थिक—और उसकी कलम की प्रखरता पर रूसी युवक निछावर थे। चरनिशेवस्की के ऊपर हजारों युवक कुर्बान होने को तैयार थे। उनमें मुश्किन तो साहस, धैर्य, सूझ और देश पर मर-मिटने की लालसा की जीती-जागती मूर्ति था।

रूसी युवक हजारों की संख्या में अपने गुरु के लिए बलि चढ़ने को तैयार थे। वे चाहते थे कि उनमें से अनेक मर-मिटें; पर चरनिशेवस्की अपनी लेखनी से अमृत पान कराता रहे। हुआ यह था कि जारशाही की प्रबन्ध-संस्था के तीसरे विभाग (Third Section of his Imperial Majesty's Bureau) को चरनिशेवस्की के विषय में एक गुप्त पत्र मिला

था कि वह नवयुवकों का नेता और धूर्त साम्यवादी है। बस, इतनी-सी रिपोर्ट पर, बिना किसी मुकदमे के, चरनिशेवस्की को पूर्वी साइबेरिया की एक जेल में निर्वासित कर दिया गया।

कई वर्ष तक तो यह पता भी नहीं चला कि चरनिशेवस्की किस जेल में रखा गया है। बड़ी खोज और वर्षों के बाद पता चला कि अधिकारियों ने उसे उत्तर-पूर्वीय साइबेरिया के विल्यूस्क नगर में कैद कर रखा है।

मुश्किन की योजना थी कि वह पुलिस-कर्मचारी का वेश धरे और बनावटी शाही आज्ञा तैयार करे, जिसमें यह लिखा हो कि चरनिशेवस्की को मुश्किन की अधीनता में सेण्ट पीटर्सबर्ग के निकटवर्ती किले की कैद के लिए भेज दो। चूंकि कैदी एक स्थान से दूसरे स्थान को बदले ही जाते हैं, इसलिए इस प्रकार की धांधली तो चल सकती थी; पर कठिनाइयां मुख्य योजना की न थीं, वरन् योजना की विस्तृत बातों को व्यवहृत करने की। विल्यूस्क नगर सेण्ट पीटर्सबर्ग (अब लेनिनग्राड) से हजारों मील दूर है। याकुट्स का सूबा, जिसमें विल्यूस्क नगर है, ग्रेट ब्रिटेन से तेरह गुना बड़ा है, और याकुट्स एशियाई रूस के नौ बड़े सूबों में से एक था। और उन दिनों साइबेरिया में न रेल थी और न तार था। इतनी लम्बी-चौड़ी यात्रा का साहस करना और ऐसी यात्रा, जिसमें चारों ओर राजकर्मचारियों द्वारा पकड़ जाने का भय हो, साधारण काम नहीं था। एक बड़ी कठिनाई मुश्किन के लिए यह भी थी कि उसके पास यथेष्ट धन न था।

जेब में कई सौ रूबल डाल मुश्किन चल पड़ा। चलते-चलते वह इरकुटस्क नगर में पहुंचा और वहां पर काम की खोज करने लगा। शीघ्र ही उसने कई पुलिस-कर्मचारियों से जान-पहचान कर ली। सम्राट् और कट्टर ईसाई धर्म के प्रति उसने अटल भक्ति दर्शाई। क्रान्तिकारियों के विरुद्ध भी उसने अपनी घोर घृणा का परिचय दिया। फलस्वरूप पुलिस-कर्मचारी उस पर मुग्ध हो गये, और पुलिस के कर्मचारियों में उसको एक अधीन स्थान मिल गया। कुछ ही दिनों में अपनी कर्तव्यपरायणता और परिश्रम से मुश्किन अपने अफसरों का कृपापात्र बन गया, और उसकी पदवृद्धि हो गई, जिसके कारण सरकारी गुप्त पत्र-व्यवहार उसकी देख-रेख में आये। मुहर और कागजात से उसने पूर्ण परिचय प्राप्त कर लिया।

तब फिर उसने विल्यूस्क के गवर्नर कप्तान जिरकोफ के लिए एक जाली आज्ञा-पत्र तैयार किया, जिसमें लिखा था कि आन्तरिक मन्त्री (The Minister of the Interior) ने निश्चय किया है कि चरनिशेवस्की की बदली आमू नदी पर स्थित ब्लागोवेशचैंक के स्थान पर की जाती है, और कैदी का चार्ज मुश्किन को दे देना चाहिए।

चरनिशेवस्की को लाने के लिए उसने क्या-क्या सोचा था, सो तो ठीक पता नहीं; पर सम्भवतः उसने ब्लाडीबोस्टक पहुंचकर प्रशान्त महासागर द्वारा अमेरिका पहुंचने की ठानी होगी।

किसी बहाने से मुश्किन ने अपनी नौकरी से इस्तीफा दिया, और उसके सरकारी कर्मचारी मित्रों को उसके त्याग-पत्र से बड़ा ही खेद हुआ। त्याग-पत्र देकर उसने विल्यूस्क की राह पकड़ी। विल्यूस्क यहां से कई सौ मील की दूरी पर था।

मुश्किन ने पुलिस-कप्तान का रूप धारण किया, पड़ावों से घोड़े लेकर सरकारी आकृति में वह शान के साथ कप्तान जिरकोफ के मकान के सामने जाकर रुका। अपना परिचय देकर उसने जाली आज्ञा-पत्र कप्तान जिरकोफ को सौंप दिया, और अपनी उत्तेजना को छिपाने के लिए उसने बड़े मजे से बातें करनी प्रारम्भ कीं।

"चरनिशेवस्की का चाल-चलन कैसा है ?"

"बहुत अच्छा। उससे हमें कभी कोई शिकायत नहीं रही है।" जिरकोफ ने उत्तर दिया।

"ये राजनैतिक कैदी अव्वल नम्बर के धूर्त होते हैं। इनका कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। परमात्मा की कृपा से इनका दमन कर दिया गया है, और अब हम लोगों को दम मारने की फुरसत है। देखो, कप्तान, मेरे पास अवकाश नहीं है। मैं यही चाहता हूं कि जहां तक हो सके मैं आज ही लौट जाऊं। मेरे खयाल से चरनिशेवस्की के पास अधिक सामान तो होगा ही नहीं"—मुश्किन ने आत्मविश्वास की ध्वनि में ये बातें कहीं।

"ओ, नहीं, उसको एक घंटे में तैयार कर दिया जायगा; पर क्या

आप मेरे ऊपर इतनी कृपा भी न करेंगे कि मेरे यहां भोजन करें ?" कप्तान जिरकोफ ने आग्रह से कहा ।

"अनेक धन्यवाद । अच्छी बात है; पर आपको मालूम होना चाहिए कि यदि हम लोग कर्तव्य की अपेक्षा भोजन का खयाल करेंगे, तो नौकरी की उन्नति में बाधा पड़ेगी"—गम्भीर भाव से मुश्किन ने कहा ।

जिरकोफ जेल में गया और उसने चरनिशेवस्की को बदली का समाचार भी सुना दिया; पर थोड़ी देर बाद उसे आगन्तुक कर्मचारी के प्रति सन्देह हुआ । वह इसलिए कि राजनैतिक कैदी का चार्ज लेने वाला अफसर अकेला कैसे आया । उसके साथ कुछ शरीर-रक्षक तो होने चाहिए थे ।

लौटकर जिरकोफ ने मुश्किन से कहा—"कैदी कल जा सकेगा, तब तक आप आराम करें ।"

बेचारे मुश्किन को उसकी बात माननी पड़ी, और अपनी आन्तरिक वेदना छिपाने के लिए उसने जिरकोफ से खूब गपशप लड़ाई; पर भीतर-भीतर वह इस बात को महसूस कर रहा था कि धनाभाव न होता, तो वह अपने साथ दो-तीन मित्रों को शरीर-रक्षक या गारद बनाकर लाता ।

अगले दिन प्रातःकाल जिरकोफ ने एक नयी तजवीज ही मुश्किन के सम्मुख रख दी और विनयपूर्वक कहा—"लम्बी यात्रा के बाद आप सुख की नींद सोये होंगे, और आप अभी यहां और रहें । आप जानते हैं कि मेरे निकट अधिकारी गवर्नर चरनेफ कितने कड़े और नियम के पाबन्द हैं । मेरे लिए यह अनुचित होगा, यदि मैं उनकी अनुमति के बिना किसी राजनैतिक कैदी को चला जाने दूं । मुझे तो आज्ञा उन्हीं से मिलनी चाहिए । कम-से-कम मैं उन्हें सूचना तो दे दूं ।"

जिरकोफ की बात से मुश्किन पर वज्रपात-सा हुआ, और उसका रंग पीला पड़ गया; पर अपनी भावनाओं को काबू में करते हुए उसने शान्त भाव से कहा—"शाही हुक्म के सामने गवर्नर का हुक्म कोई चीज नहीं, और आन्तरिक मन्त्री अपने निर्णय के लिए किसी अधीन अधिकारी की स्वीकृति आवश्यक नहीं समझता ।"

जिरकोफ ने चितायुक्त विनय से कहा—"बेशक । आपकी बात

औचित्यपूर्ण है। गवर्नर चरनेफ केन्द्रीय सरकार के कार्यों की आलोचना करने का साहस भी नहीं कर सकते; पर तनिक मेरी स्थिति में अपने को रखिये। मैं बाल-बच्चेदार आदमी हूं। बीवी है। बच्चे हैं। श्रीमान् गवर्नर साहब की तनिक-सी अप्रसन्नता से मेरा सर्वनाश हो जायगा।"

"तब फिर क्या करने का विचार है?"

"मैं एक हरकारे को घोड़े पर अभी भेजता हूं। पांच-छः दिन में वह याकुटस्क से लौट आयेगा। ऐसा करने से मैं अपना कर्तव्य पूरा कर लूंगा, और फिर आप चरनिशेवस्की को जहां चाहें, ले जायें। असल बात यह है कि मुझे जितनी चिन्ता चरनिशेवस्की की है, उतनी और किसी कैदी की नहीं। यदि उसकी बदली यहां से हो जाय, तो मैं अपना भाग्य सराहूंगा। यों तो चरनिशेवस्की की ओर से कोई शिकायत नहीं; पर आप जानते हैं कि रूसी नवयुवकों का वह लाड़ला है, इसलिए सरकार उसे सबसे अधिक खतरनाक निहिलिस्ट समझती है।"

मुश्किन ने समझ लिया कि जिरकोफ पर कोई चाल न चलेगी, और उसके सामने अब प्रश्न था स्वयं अपने बचाव का। एक मिनट के विचार के उपरान्त उसने उत्तर दिया—"आपकी कर्तव्य-परायणता का मैं बहुत कायल हूं। आपकी इस बात की चर्चा मैं आन्तरिक मन्त्री से भी करूंगा, सम्भवतः आपको वृद्धि-स्वरूप यूरोपीय रूस में कोई अच्छा स्थान मिल जाय। रही गवर्नर की बात, सो यहां पर प्रतीक्षा करने की अपेक्षा मैं यह उचित समझता हूं कि मैं ही स्वयं जाकर उनसे भेंट कर लूं, इसलिए मेरे घोड़े भी शीघ्र तैयार कराइये।"

"अभी कराता हूं। साथ ही मैं यह भी उचित समझता हूं कि आपके साथ दो कज्जाक (कोसक) सिपाही भी जायं, क्योंकि इस इलाके में यह रिवाज है कि शाही कर्मचारियों के साथ कुछ सवार हों"—जिरकोफ ने कहा।

इस प्रस्ताव को अस्वीकार करने के मानी थे जिरकोफ के सन्देह का प्रमाण और फलस्वरूप मुश्किन की गिरफ्तारी, इसलिए बनावटी मुसकराहट से मुश्किन ने कहा—"अनेक धन्यवाद इस कृपा के लिए। आप तो शिष्टाचार की मूर्ति हैं। यद्यपि मैं अपने लिए किसी साथी की कोई

आवश्यकता नहीं समझता; पर इस इलाके में उनकी अत्यन्त आवश्यकता है।"

दो बलशाली कज्जाक सिपाहियों के साथ मुश्किन याकुटस्क की ओर चल पड़ा। मुश्किन स्वयं बहुत ही स्वस्थ और मजबूत था; पर वह जानता था कि खुले मैदान में वह उन दो सिपाहियों से पार न पा सकेगा। सिपाहियों के व्यवहार से मुश्किन को स्पष्ट हो गया कि उन्हें उसको आंख से ओझल न होने देने की गुप्त आज्ञा थी।

विल्यूस्क और याकुटस्क का मार्ग सघन वनों और बड़े-बड़े पहाड़ों के बीच से था। ध्रुव-प्रदेश के सौन्दर्य और विल्यू और लीना नदियों की नयनाभिराम अनन्त शोभा चारों ओर थी। यदि उस मार्ग में कोई यात्री भटक जाय, तो फिर या तो वह भूख और शीत का शिकार होता है, या फिर भेड़ियों और भालुओं का। मनुष्यों की आबादी वहां से सैकड़ों मील दूर थी, मुश्किन ने सोचा कि उसके बचने की सूरत उसी समय तक थी, जब तक वह गार्डों के साथ था, क्योंकि गवर्नर के यहां पहुंचकर अनेक आदमियों की अपेक्षा दो से भुगतना सरल था। एक दूसरी बात यह भी हो सकती थी कि गवर्नर के यहां पहुंचकर उसे झांसा दिया जाय कि वह एक राजकर्मचारी है, और अभिवादन के लिए आना उसका कर्तव्य है, क्योंकि वह उस ओर आया हुआ था, और विल्यूस्क की घटना का गवर्नर से जिक्र ही न किया जाय और दुआ-सलाम करके वह वहां से टरक दे। इसी प्रयोग के लिए उसने निश्चय किया; पर शीघ्र ही एक अड़चन आ गई। विल्यूस्क की ओर से एक घुड़सवार आया और दोनों कज्जाक सिपाहियों से मिला। मुश्किन ने सुना कि उसने उनसे कहा कि उसे कुछ जरूरी कागजात लेकर उनसे पहले गवर्नर के पास पहुंचना है।

मुश्किन की योजना का गुड़-गोबर हो गया। वह जाल में फंसने वाला ही था। उसके लिए यदि कोई अवसर बचने का था, तो बस गवर्नर के यहां पहुंचने से पूर्व ही था। उस इलाके में न कोई आदमी था और न आदमजाद; पर पुलिस के शैतान की अपेक्षा उसने जंगल के भेड़ियों और भालुओं तथा भूख और शीत से मरना कहीं अधिक अच्छा समझा। इसलिए

उसने अपने भाग्य का पासा फेंका, और एकदम सघन जंगल में फांद पड़ा और लगा अंधाधुन्ध भागने। दोनों कज्जाक सिपाहियों ने चिल्लाते हुए उसका पीछा किया और कई बार उस पर फायर किया; पर निशाना एक न पड़ा। एक सिपाही तो थककर रह गया; लेकिन दूसरे ने उसका पीछा ही नहीं किया, वरन् उसको लगभग पा ही लिया होता कि मुश्किन एकदम मुड़ा और धांय से पिस्तौल की गोली उसके रसीद की। चीखकर सिपाही गिरा। वह घायल ही हुआ था। मुश्किन चाहता तो उसे मार भी सकता था; पर वह तो स्वयं बचना चाहता था, और बचाव के लिए ही उसने सिपाही पर फायर किया था। मुश्किन की परिस्थिति का अनुमान कल्पनातीत है। दिन में गर्मी थी; और रात को भयंकर शीत था, न सोने का ठिकाना और न भोजन का प्रबन्ध।

कज्जाक सिपाहियों के विल्यूस्क पहुंचते ही कप्तान जिरकोफ ने एक विशाल शिकार-दल तैयार किया, जिसमें सैनिकों ने ही नहीं, वरन् और लोगों ने भी भाग लिया। कप्तान जिरकोफ ने घोषणा की कि जो कोई फरार अभियुक्त को जिन्दा या मुर्दा लायेगा, उसे यथेष्ट पुरस्कार मिलेगा।

मुश्किन मिला—भूख, थकावट और शीत से मृतप्राय। केन्द्रीय सरकार से लिखा-पढ़ी की गई, और कई मास की कैद के उपरान्त वह यूरोपीय रूस के पेट्रोपेब्लोव्स के किले को भेज दिया गया। उन दिनों पेट्रोपेब्लोव्स में राजनैतिक कैदियों पर किए गये लोमहर्षकारी अत्याचारों के नाम से कैदी कांप उठते थे। मुश्किन को लोहे की जाकेट पहनाई जाती, चारपाई से बांधा जाता और पीटा जाता। उसके कराहने और चिल्लाने से अन्य कैदी कांप उठते; पर मुश्किन की बलिष्ठ आत्मा खयाल करती कि उसकी आहें और उत्पीड़न अदृष्ट रूप से जारशाही को कमजोर कर रहे हैं। उसकी यातनाओं से उसके देश भाइयों को सुख मिलेगा, और सर्वसाधारण के सुख को कौन याद रखता है। दुःख और आदर्श तथा देश के लिए भुगते हुए क्लेश और यातनाएं आत्मा के अमर आभूषण हैं, जिनको देशवासी इतिहास और हृदय में संचित करके रखते हैं। बस, इसी भावना से मुश्किन ने शरीर की यातनाएं भुगतीं।

उस पर मुकदमा चला। सन् 1878 के प्रारम्भ में उसको दस वर्ष की कैद का दण्ड मिला। उसके सब नागरिक अधिकार छीन लिये गये, और खारकोफ के बन्दी-गृह में उसे भेज दिया गया।

खारकोफ के कैदखाने के विषय में सरकारी जांच कमीशन की रिपोर्ट थी कि वह मनुष्यों के रहने के लिए सर्वथा अयोग्य है; पर मुश्किन उसी में रखा गया था। उन्मत्त जारशाही के मत से वह मनुष्य नहीं था, वरन् भयंकर राजनैतिक कैदी। खारकोफ में राजनैतिक कैदी या तो पागल हो जाते थे, या छूत की बीमारियों के शिकार। कहने-सुनने वाला कौन था। कैदखाना अपना, कर्मचारी अपने, डॉक्टर अपने और रिपोर्ट अपनी। बस, राजनैतिक कैदी ही बेगाने थे। सो वे भी मर-मिटने पर उतारू थे। उनमें से बहुतों का मोटो था कि हम तो डूबेंगे ही; पर कभी यार जार को ले डूबेंगे।

खारकोफ में भी वीर मुश्किन चुप न था।। कष्टों और यातनाओं के सहने पर भी उस वीर की सूझ और धैर्य का अन्त न हुआ था। तख्ते की लकड़ी और अपने हाथों से उसने कैदखाने की दीवार के नीचे एक सुरंग खोदनी प्रारम्भ की। थोड़ी-थोड़ी मिट्टी खोदता और संभालकर उसको कमरे के चबूतरे से सटाकर रखता। रातों-रात यह काम करता और अपने कपड़ों को एक मूर्ति के आकार में रख देता, ताकि वार्डर आदि कोई उधर आकर झांके, तो वह बैठा दिखाई दे।

महीनों के परिश्रम के बाद उसकी सुरंग तैयार हो गई। बस, निकलने-भर का भाग काटना था। यदि वह जेल के कपड़ों में निकलता, तो फौरन ही पकड़े जाने की आशंका थी, इसलिए उसने नये कपड़ों की योजना रची। जेल की तिकड़म से उसे कुछ पुराने कपड़े मिल गये, और उन्हीं से उसने अपने कपड़े तैयार किये; पर दुर्भाग्य उसके पीछे पड़ा था। एक रात को जब वह सुरंग में था, एक वार्डर उसके कमरे में आया, और उसको—उसकी मूर्ति को—सोते समझ जगाया। जब उसे धोखे का ज्ञान हुआ, तब वह चिल्लाया, कैदखाने का बिगुल बजा। मुश्किन को सुरंग से खींचकर बाहर लाया गया और अति सुरक्षित कमरे में रखा गया।

मुश्किन की आशा-लता मुरझा गई। उत्साह का स्रोत सूख गया। उसने समझा कि अपने अनेक साथियों की तरह वह भी पागल हो जायगा। उसके जीवन की विचारधारा पलट नहीं सकती थी। उल्टी गंगा नहीं बहा करती, इसलिए उसने मृत्यु का आह्वान किया। सूली का हार या गोली खाने की लालसा ही उसे थी। सो कैसे हो? इस कारण वह इस ताक में था कि कोई ऐसा जुर्म करे, जिससे उसे फांसी की सजा मिले। इसी विचार से उसने धर्म के नाम पर गिरजाघर प्रार्थना करने जाने की इच्छा प्रकट की। संसार में ढोंग, दिखावटी पाठ-पूजा और जुल्म का बहुत-कुछ भाईचारा है। धर्म के नाम पर गिरजाघर ले जाने के मानी थे कि कैदी में जारशाही के प्रति कुछ भक्ति-भाव शेष है। मुश्किन गिरजाघर ले जाया गया, और वहां पर—कैदखाने के गिरजे में—उसने एक अधिकारी पर चोट पहुंचाई। मुश्किन को बड़ा दुःख हुआ, जब फैसले में उसे पागल कहकर आक्रमण के लिए बरी कर दिया गया।

मुश्किन ने भाग निकलने की फिर तरकीब भिड़ाई। वह निकल भागा भी। उसकी दुस्साहसिक घटनाएं सुरंगों और पहाड़ों में छिपने, दीवार फांदने और बाल-बाल बचने और फिर गिरफ्तार होने की कहानी कुछ दिन चलती रही। फिर वह गिरफ्तार हुआ। अन्त में जीवन से निराश होकर उसने मरने की ठानी। दुःखी मुश्किन ने अवसर पाकर फिर किसी अधिकारी पर हमला किया। फलस्वरूप उसको मनोवांछित दंड मिला। कोर्ट-मार्शल हुआ। 1885 में किले की दीवार के भीतर सैनिकों के दस्ते के सामने मुश्किन खड़ा किया गया, और एक-दो-तीन धांय-धांय की कम्पित ध्वनि में मुश्किन का शरीर लड़खड़ाकर धराशायी हो गया। गिरते हुए हाथ मानो कहते थे—'मेरे शरीर की आहुति सफल हो; पर यह आहुति मेरे लिए नहीं है।'[1]

---

1. अंग्रेजी की पत्रिका 'Wide World' की फाइल के आधार पर सच्ची कहानी। —लेखक